ब्रह्मचर्य विज्ञान

भूमिका लेखक

श्री० लक्ष्मण नारायण गर्दे

लेखक

श्री० जगन्नारायणदेव शर्मा]

प्रकाशक

[सस्ता-साहित्य-मण्डल, दिल्ली

मूल्य

चौदह आना

तीसरी बार २०००
सन उन्नीस सौ चौंतीस
नवीन संशोधित संस्करण।

पू० मालवीयजी की अपील

"'सस्ता-साहित्य-मण्डल'ने हिन्दी में उच्चकोटि की सस्ती पुस्तकें निकालकर हिन्दी की बड़ी सेवा की है। सर्वसाधारण को इस संस्था की पुस्तकें लेकर इसकी सहायता करनी चाहिए।"

मदनमोहन मालवीय

मुद्रक—
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,
दिल्ली।

पाठकों से—

'ब्रह्मचर्य-विज्ञान' का तृतीय संस्करण हम कुछ देर से उपस्थित कर रहे हैं, इसके लिए हम उसके उत्सुक पाठकों के क्षमाप्रार्थी हैं। इस विलम्ब का मुख्य कारण यह रहा है कि हम इसको संशोधित-परिवर्द्धित करके और भी सुन्दर रूप में उपस्थित करना चाहते थे, परन्तु हमे खेद है कि इस बीच कुछ ऐसी परिस्थिति रही कि हम अभीतक वैसा न कर पाये। अब पाठकों की उत्सुकता और उनके लगातार तकाजों से हम इसी रूप मे इसे उपस्थित कर रहे हैं। आशा है इससे उनकी उत्सुकता शान्त होगी और नया संशोधित-परिवर्धित संस्करण उपस्थित करने का हमे शीघ्र ही अवसर प्राप्त होगा।

मंत्री—

सस्ता-साहित्य-मण्डल।

पूर्वाभास

एतद्देश प्रसूतस्य, सकाशाद् अग्र-जन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यांसर्वमानवाः ॥

(मनुस्मृति)

'ब्रह्मचर्य' बहुत ही गहन विषय है। इसके आध्यात्मिक तत्त्वों का विवेचन करना, सरल काम नहीं। इसके निगूढ़ रहस्यों को भली भांति प्रकाशित करने में इसके आचार्य ही कुछ समर्थ हो सकते हैं।

इस ग्रन्थ को मैंने बड़े उत्साह और परिश्रम के साथ लिखा है। प्रचुर समय इसके चिन्तन और मनन मे लगाया है। पर जिस रूप मे इसे उपस्थित करना चाहता था, उस रूप मे न हो सका। अभी मुझे इस सम्बन्ध मे इससे भी अधिक अवलोकन तथा सङ्कलन की आवश्यकता थी, जो समयाभाव के कारण असह्य जान पड़ने लगी। इसलिए मैंने जो कुछ हो, जैसा कुछ हो, इसे लिख डालने को ही उचित समझा।

"सारं ततो ग्राह्यमपास्य फाल्गु--
हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्।"

(हितोपदेश)

इसलिए जिस प्रकार हंस जल में से दूध ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार किसी पदार्थ के दूषित अंश को छोड़ कर, उसके सार को अपनाना उचित है। अतः पाठकों से नम्र निवेदन है कि इस ग्रंथ के दोषों पर ध्यान न देकर, इसके सार को ही ग्रहण करें।

जो देश समाज-दुःखदायिनी दासत्व-शृंखला से अपनी . चाहता है, जो धर्म अपनी विजय-वैजयन्ती भूमण्डल में उड़ाना है, जो जाति अपनी पतितावस्था से उत्थान चाहती है, जो राष्ट्र को सर्वोच्च बनाना चाहता है, उस के लिए ब्रह्मचर्य ही महामन्त्र अमोघ अस्त्र है। ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त सुख—शान्ति का साधन दू. उपाय कहीं है ही नहीं। जो जाति ब्रह्मचर्य के महत्त्व को नहीं जान वह अधिक दिनों तक नहीं जी सकती। मृतक से मृतक जाति ब्रह्मचर्य-रूपी अमृत पान करके संसार में अमर हो जाती है।

इस ग्रन्थ के लिखने मे मैंने अनेक पुराने तथा नये ग्रन्थों का .व पत्र-पत्रिकाओं का अवलोकन एवं आवश्यक सार-संग्रह किया है। अतएव मैं उनके उपदेष्टा, कर्ता तथा सम्पादक महाशयों के प्रति ..दि कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, क्योंकि उनकी साहायता के बिना मेरा और भी कठिन होता।

ब्रह्मचर्य-विषयक ग्रन्थों के प्रचार की देश के कोने-कोने में, विशेष कर हिन्दुओं के घर-घर में बहुत बड़ी आवश्यकता है। यदि ऐसे ग्रन्थ बालकों और कन्याओं के पाठ्य-क्रम में रक्खे जायँ, तो मेरे विचार से उनके दैनिक विद्याभ्यास, सदाचार और ब्रह्मचर्य के पालन में, बहुत कुछ कर्तव्य-ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इसलिए देश के सुयोग्य माता-पिता, विद्यालयों के शिक्षक-शिक्षिका, विद्यार्थियों के अभिभावकों तथा सुधारक महोदयों से विनम्र विनय है कि वे इस ग्रन्थ का घर-घर प्रचार कर, लेखक को सप्रेम अनुगृहीत करें!

महाशिवरात्रि सं० १९८३
रामनगर-काशीराज्य

विनीत
जगन्नारायणदेव शर्मा

भूमिका

ब्रह्मचर्य से लाभ और उसके न होने से हानि, प्रत्येक मनुष्य के अल्पाधिक अनुभव की बात है। इस विषय में पूर्ण अनुभव साधारणतः किसी को नहीं होता, क्योंकि जहां ब्रह्मचर्य की पूर्ण हानि होती है, वहाँ जीवन ही सम्भव नहीं है और जहां ब्रह्मचर्य का अखण्ड पालन होता हो, ऐसे ऊर्ध्वरेता महापुरुष के दर्शन दुर्लभ हैं। परन्तु जो थोड़ा-सा अनुभव प्रत्येक मनुष्य को इस विषय में होता है, उससे वह इस सत्य को जान सकता है कि "मरणं विन्दु-पातेन, जीवनं विन्दु-धारणात्"—वीर्य से ही जीवन है और उसके अभाव से मृत्यु। (यह बात वैयक्तिक जीवन में जितनी सत्य है, उतनी ही समाज के जीवन में भी, क्योंकि व्यक्तियों के समूह का ही नाम समाज है।)

केवल भौतिक मृत्यु ही नहीं, सब प्रकार की मृत्यु "विन्दु पात" से ही होती है—विन्दु-पात से बुद्धिभङ्ग होता है, धैर्य नष्ट हो जाता है, सब प्रकार के उद्योग करने की शक्ति जाती रहती है। "विन्दु-पात" ही सब प्रकार की अवनति का मूल है और इसीसे यह समझ लेना चाहिए—"विन्दु-धारण" ही सब प्रकार की उन्नति का साधन है। "सिद्धे विन्दौ महायत्ने, किं न सिध्यति भूतले?" ब्रह्मचर्य का साधन अत्यन्त कठिन है, विशेष कर ऐसे समाज में, जहाँ लोगों का नित्य का कार्य-क्रम ब्रह्मचर्य-पालन के अनुकूल नहीं है। पर यह कठिन साधन जो साध सकता है, संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो उसे सिद्ध न हो।

हमारे समाज के सामने इस समय अनेक ऐसी कठिनाइयाँ उपस्थित हैं, जिन्हे हल करना मनुष्य की बुद्धि और शक्ति के बाहर का काम हो रहा है। कहते हैं, हिन्दू-जाति के सामने जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित है पर जीवन या मरण का निर्णायक ब्रह्मचर्य है। मरणासन्न समाज के लिए ब्रह्मचर्य ही संजीवनी विद्या है! इसकी आवश्यकता और

उपयोगिता के सम्बन्ध में दो मत हो ही नहीं सकते। बहुत-से प्रश्न जो हल नहीं हो रहे है, वे समाज में ब्रह्मचर्य धारण करनेवालों की सख्या के बढ़ने से आप ही हल हो जायँगे। शारीरिक तथा बौद्धिक बल का यही आधार है।

हम लोग इस विद्या को भूल गये हैं। इसलिए इसकी ओर ध्यान दिलाने के सब प्रयत्नों का होना नितान्त आवश्यक है। प० जगन्नारायण-देव शर्मा जी की इस पुस्तक का इसीलिए हम स्वागत करते हैं। इसमें लेखक ने ब्रह्मचर्य की महिमा और विधि के विषय में बहुत अच्छा सग्रह किया है, जो सर्वसाधारण तथा विद्यार्थी-युवकों के लिए तो बहुत उपकारक होगा। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने ब्रह्मचर्य का विवेचन करते हुए, ब्रह्मचर्य के प्राचीन आदर्श को सामने रक्खा है, जिसमें वीर्य-रक्षा और उसके परम पुरुषार्थ की सिद्धि से उपयोग—दोनों का अन्तर्भाव होता है। ब्रह्मचर्य का पदार्थ और भावार्थ भी ऐसा ही है। ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन करने में लेखक ने बहुत विस्तार किया है, परन्तु हमारी समझ से वह व्यर्थ न होगा। इस विस्तार में प्राचीन ग्रन्थों से जो अवतरण उन्होंने दिये है, वे बहुत ही स्फूर्तिदायक और समय पर काम देने वाले है। प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में सभी विचारणीय बातों का समावेश इस पुस्तक में किया गया है, जिससे पुस्तक सब के लिए बड़े काम की हुई है। ऐसी पुस्तकों का देश में जितना प्रचार हो, उतना अच्छा है। हमारे समाज में जितने अधिक लोग ब्रह्मचर्य के महत्त्व को समझेंगे, जितने अधिक लोग उसका पालन करेंगे, हमारे समाज का भौतिक और बौद्धिक बल इतना ही अधिक बढ़ेगा। ब्रह्मचर्य का बल ही हमारी सब समस्याओं को हल करेगा।

फाल्गुन शुक्ल २,
स० १९८३

लक्ष्मण नारायण गर्दे

समर्पण

महामना मालवीयजी महाराज,

आप भारत-भूमि के एक जाज्वल्यमान रत्न हैं। हिन्दू-जनता आपको सनातन-वैदिक-धर्म का एक सच्चा सेवक समझती है। आप एक कर्मनिष्ठ ब्राह्मण हैं। विद्या-वृद्धि के लिए आपने पुरुषार्थ से 'काशी-विश्वविद्यालय' जैसा यश-स्तम्भ खड़ा किया है। आप विधिवत् ब्रह्मचर्य के पूर्ण पक्षपाती एवं गृहस्थ ब्रह्मचारी हैं। यह तो आप जानते ही हैं कि ब्राह्मण, विद्या तथा ब्रह्मचर्य का आपस में कितना घनिष्ट सम्बन्ध है! अतः 'ब्रह्मचर्य-विज्ञान' नामक यह लघु ग्रन्थ आपके ही कर-कमलों में सश्रद्धा समर्पित है। आशा है, धृष्टता पर ध्यान न देकर, इसे अवश्य स्वीकार करने की अनुकम्पा करेंगे।

विनीत—

जगन्नारायणदेव शर्मा

विषय-सूची

—o—

प्रथम-खण्ड

द्वितीय-खण्ड

तृतीय-खण्ड

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ

चतुर्थ-खण्ड

पंचम-खण्ड

'ब्रह्मचर्य' से ही मनुष्य का मानसिक ज्ञान स्फुरित होता है। उसके शारीरिक बल का भी सर्वोत्कृष्ट साधन ब्रह्मचर्य ही है । सभी लोग ब्रह्मचर्य को श्रेष्ठ मानकर उसकी प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। बुद्धिमानों को ब्रह्मचर्य अत्यन्त प्रिय होता भी है । ब्रह्मचर्य से ही मनुष्य दीर्घायु प्राप्त कर सकता है। इसलिए इस पवित्र वैदिक प्रार्थना में कहे गये 'ब्रह्मचर्यरूप भगवान्' को हृदय मे धारण करना योग्य है।

ब्रह्मचर्य की व्याख्या

वास्तव मे 'ब्रह्मचर्य' एक शब्द नहीं, यह दो शब्दों के योग से बना है। एक 'ब्रह्म' दूसरा 'चर्य'। इन दोनों शब्दों के, भिन्न-भिन्न स्थानों पर, अनेक अर्थ होते है। जिनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं—

'ब्रह्म' शब्द से ईश्वर, वेद, वीर्य, मोक्ष, धर्म, सूर्य, ब्राह्मण, गुरु, सुख, योग, सत्य, आत्मा, मन्त्र, अन्न, द्रव्य, जल, महत्व, साधन और ज्ञान आदि का और 'चर्य' शब्द से चिन्तन, अध्ययन, रक्षण, विवेचन, सेवा, नियम, उपाय, हित, ध्येय, प्रगति, प्रसार, संयम, साधना और कार्य आदि का बोध होता है।

'ब्रह्मचर्य' बहुत प्राचीन शब्द है। इसके दूसरे बहुत से अर्थ हो सकते है, पर हमारे वैदिक साहित्य मे इसके तीन ही प्रधान अर्थ बताये गये है। हमने जहाँ कहीं देखा है, इन्हीं तीनों अर्थों को ध्यान मे रख कर इस शब्द का प्रायः व्यवहार हुआ है। प्रायः उन्हीं अर्थों को लक्ष्य में रख कर हमारा यह ग्रन्थ भी लिखा जा रहा है।

'ब्रह्म' शब्द वीर्य, वेद और ईश्वर-वाचक है। 'चर्य' रक्षण, अध्ययन तथा चिन्तन का द्योतक है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य के ये तीन प्रधान अर्थ समझे जाने चाहिएँ—(१) वीर्य-रक्षण, (२) वेदाध्ययन, और (३) ईश्वर-चिन्तन। पृथक्-पृथक् तो तीन अर्थ हुए, पर तत्त्वतः वे तीनों ही एक मूलभूत 'ब्रह्मचर्य' में सन्निहित हैं।

'ब्रह्मचर्य' का पहला अर्थ हमने 'वीर्य-रक्षण' किया है। यह अर्थ प्राचीन समय से जनता में रूढ़ि को प्राप्त हो गया है। ब्रह्मचर्य का नाम लेते ही लोगों मे वीर्य-रक्षण का भाव उठता है। यह साधन रूप से अब भी संसार मे प्रतिष्ठित है।

'ब्रह्मचर्य' का दूसरा अर्थ हमने 'वेदाध्ययन' किया है। यह अर्थ वीर्य-रक्षण के साथ ही प्रचलित था। ब्रह्मचर्य की अवस्था मे वेदाध्ययन एक प्रधान कार्य समझा जाता था। अब भी विद्योपार्जन की प्रणाली किसी न किसी रूप में सर्वत्र प्रचलित है ही।

'ब्रह्मचर्य' का तीसरा अर्थ हमने 'ईश्वर-चिन्तन' किया है। यह भी प्राचीन काल मे उद्देश्य-रूप से माना जाता था। वीर्य-रक्षण और वेदाध्ययन की परिपाटी के साथ ही ईश्वर-चिन्तन भी होता था। अब भी लोग देवाराधन करते है।

ब्रह्मचर्य मे वीर्य-रक्षण, वेदाध्ययन और ईश्वर-चिन्तन इन तीनों बातों की सिद्धि होती है। अर्थात्, एकसाथ वीर्य-रक्षण करने, वेदाध्ययन करने तथा ईश्वर-चिन्तन करने का नाम 'ब्रह्मचर्य' है। इन्हीं तीन महत्वशाली प्रयोजनों के एकत्र किये हुए भाव से 'ब्रह्मचर्य' शब्द की संसार मे उत्पत्ति हुई है।

जिन आधारों पर ऊपर के अर्थ किये गये है, वे भी नीचे लिखे जाते हैं :—

कठोपनिषत्—

"तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म, तदेवामृतमश्नुते ।"

अर्थात्—वही वीर्य है, वही परमात्मा है, और वही अमृत कहलाता है ।

यजुर्वेद—

"तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म, ता आपः स प्रजापति ।"

अर्थात्—वही वीर्य है, वही ईश्वर है, वही जीवन है, और वही सृष्टि-कर्त्ता भी है ।

ऐतरेयोपनिषत्—

"प्रज्ञानं वै ब्रह्म ।"

अर्थात्—वेद साक्षात् परमेश्वर है ।

मनुस्मृति—

"ब्रह्मभ्यासेन चाजस्रमनन्तसुखमश्नुते ।"

अर्थात्—वेद का सदैव अध्ययन करने से अपरिमित सुख मिलता है ।

कैवल्योपनिषत्—

"यत्परब्रह्म सर्वात्मा, विश्वस्यायतनं महत् ।"

अर्थात्—जो परमब्रह्म है—सर्वात्मा है, और संसार का श्रेष्ठ धाम है।

वेदान्तदर्शन—

"अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा ।"

अर्थात्—अब परमात्म-तत्त्व की विवेचना करते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि वीर्य, वेद और ईश्वर का रक्षण, अध्ययन तथा चिन्तन ही 'ब्रह्मचर्य' है। इन तीनों में से एक भी कम हुआ, तो ब्रह्मचर्य की सम्पूर्णता नहीं प्राप्त हो सकती।

ब्रह्मचर्य के आविष्कारक

गायन्ति देवाः किल गीतकानि—
धन्यास्तु ये भारत भूमि-भागे।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतु-भूते,
भवन्ति भूयः पुरुषाःसुरत्वात् ॥

(श्रीमद्भागवत्)

यह वही महत्वशाली महादेश है, जहाँ की सभ्यता अपने अलौकिक गुणों के कारण एक बार उन्नति की चरम सीमा को पहुँच गई थी। यह वही पुण्य-प्रधान भूमि है, जहाँ का अन्तिम आलोक ग्रहण कर आधुनिक सभ्य तथा उन्नत कहलाने वाले देशों के निवासी विश्व में अपनी विजय-वैजयन्ती उड़ा रहे हैं। वास्तव में हमारे उस गौरव-गरिमामय वैभव-विकास के आश्रय-भूत इस देश में रहने वाले परम स्वार्थत्यागी और त्रिकालदर्शी ऋषि, मुनि तथा महात्मा लोग थे, जो उच्च पर्वतों की कन्दराओं

और हरे-भरे वनों की कुटियों में बस कर समस्त मनुष्य-जाति के लिए हितकर एवं सुख-शान्तिमय उपाय सोचा करते थे। उनके सत्सिद्धान्त कोरी कल्पना (Theory) की अरक्षित भित्ति पर नहीं ठहरते थे, वरन् वे आदर्श विज्ञान (Science) की खरी कसौटी पर सुदृढ़ अभ्यास (Practice) द्वारा कसे जाकर ही जनता में प्रचलित किये जाते थे। यही एक मुख्य कारण था कि उनके अनुगमन से प्रजा सदा फूलती-फलती रही। उन्होंने सामाजिक जीवन को नियम-बद्ध किया। ईश्वर की सत्ता को स्थिर रखने के लिए तथा मानवी सृष्टि को कुमार्ग-गामिनी होने से बचाने के उद्देश्य से अनेक शास्त्रों की रचना की, और उनमें अनेक अमूल्य, उच्च तथा स्वाभाविक विधान किये। उन्होंने स्वभाव-सिद्ध ब्राह्मणादि चार वर्णों और ब्राह्मचर्यादि चार आश्रमों की योजना की। जैसे वर्णों में ब्राह्मण वैसे आश्रमों में ब्रह्मचर्य को प्रथम और श्रेष्ठ स्थान मिला। इस रहस्य-पूर्ण प्रणाली को हम उनके सर्वतोभद्र मस्तिष्क और दिव्य-दृष्टि का सबसे बड़ा उत्पादन मानते हैं। संसार की प्राथमिक अवस्था में, वास्तव में, यह उनकी अपूर्व योग्यता थी। अतएव ब्रह्मचर्य के मूल आविष्कारक, इसी देश के प्राचीन महात्मा तथा दूरदर्शी देव-तुल्य पुरुष थे। इन्हींके कारण कई शताब्दियों तक ब्रह्मचर्य-प्रथा का प्रचार धार्मिक रूप से भारत में ही क्या, समस्त भूमण्डल में उत्तरोत्तर बहुत दिनों तक बढ़ता गया।

काल के प्रभाव से उस सुवर्ण युग का अन्त हो गया। भारत

मे आज वे महर्षि तथा सिद्ध लोग नहीं रहे, पर जिस कल्याण-प्रद मार्ग को दिखला गये, वह इस पतित समय में भी उनका स्मरण दिलाता है। यदि हम अपनी अज्ञानता और अभिमान को छोड कर, उनकी बातों पर विश्वास और प्रेम कर, ब्रह्मचर्य-प्रणाली को पुनः उसी रूप मे प्रचलित करें, तो वास्तव मे हम फिर भी उनकी आत्मा का दर्शन नवीन शरीर मे कर सकते है। इसमे तनिक भी सन्देह नहीं कि ब्रह्मचर्य के प्रभाव से भविष्य मे हम भी वैसे ही आविष्कारक तथा सत्पुरुष हो सकेंगे।

ब्रह्मचर्य की प्राचीनता

ब्रह्मचर्य-प्रथा के आविष्कार-काल के सम्बन्ध मे कुछ कहने के लिए, विश्व का इतिहास मूक है। इसलिए यह बात निश्चय रूप से नहीं कही जा सकती कि यह प्रथा अमुक समय में ही प्रचलित हुई थी। पर, हाँ, इतना तो कई उदाहरणों से जान पड़ता है कि इसका सूत्रपात वैदिक काल से पहिले हो चुका था। जैसा कि निम्न-लिखित मन्त्र से भी सूचित होता है:—

ब्रह्मचर्येण तपसा, देवामृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण, देवेभ्यः स्वराभरत॥

(अथर्ववेद)

ब्रह्मचर्य के तपोबल से देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की, और इन्द्र को इसी ब्रह्मचर्य के पुण्य-प्रताप से सुरों मे उच्चासन मिला।

वास्तव में हमारे वेद-कालीन आर्यों ने इसका पूर्ण-रूप से विकास तथा सार्वभौम प्रचार किया था—उस समय की आश्रम-प्रणाली से भी यह बात साफ़ झलकती है। यह प्रथा पौराणिक काल तक अधिक मर्यादित रही, और यहीं से फिर इसकी धीरे-धीरे अवनति होने लगी और इस दशा को पहुँची।

सृष्टि-संवत् पर बहुत मत-भेद है। यदि लोकमान्य तिलक के मत से वैदिक सभ्यता का समय ८००० वर्षों से पूर्व मानें, तो भी हमारी ब्रह्मचर्य-प्रथा इससे विशेष प्राचीन ठहरेगी। वेदों में कई स्थानों पर ब्रह्मचर्य विषयक मन्त्र आये हैं। उनमें कहीं सङ्केत और कहीं प्रकट रूप से ब्रह्मचर्य के वर्णन हैं। प्रथम तीन वेदों में सूक्ष्म रीति से ब्रह्मचर्य का वर्णन है, पर चौथे वेद (अथर्वण) में इसका उल्लेख बहुत सार-गर्भित रूप में किया गया है, जो आगे यथास्थान दिया जायगा।

वेदों के पश्चात् उपनिषदों की गणना है। हमारे कई उपनिषदों मे ब्रह्मचर्य विषय की आख्यायिकायें आई है, और उन्हींके अन्तर्गत इस सम्बन्ध के मनोहर उपदेश भी दिये गये हैं, जिन्हे हम प्रसङ्ग-प्रसङ्ग पर पाठकों के लिए उपस्थित करेंगे।

वेद तथा उपनिषदों के पश्चात पुराण, रामायण, महाभारत और विविध धर्मशास्त्र, प्रमाण-कोटि के ग्रन्थ है—इन ग्रन्थों में भी ब्रह्मचर्य की कथायें, पालन की शिक्षायें, विविध प्रशंसायें तथा निश्चित की हुई विधियां मिलती हैं। इसलिए ऐसी अवस्था मे इसकी प्राचीनता मे कोई सन्देह ही नहीं रह जाता। प्राचीन

ग्रन्थों में ऐसा कोई विरला ही ग्रन्थ होगा, जो ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में अपना भिन्न मत रखता हो, और कुछ न कुछ उपदेश न देता हो ।

आज से ५००० वर्ष पहले हमारी रामायण और महाभारत के समय में भी अनेक पुरुष ब्रह्मचर्य के पालन में आदर्श स्वरूप हो गये हैं। पुरुष ही नहीं बहुत-सी स्त्रियाँ भी इस अलौकिक धर्म की दृढ़ अनुयायिनी थीं। हिन्दू राजाओं के अधः पतन-काल में भी उस ब्रह्मचर्य का दीपक कहीं-कहीं टिमटिमा रहा था। वास्तव में ब्रह्मचर्य का इतिहास भारतीय सभ्यता के इतिहास से कम प्राचीन नहीं है। इसका उत्थान और पतन सभ्यता के साथ ही साथ होता आया।

ब्रह्मचर्य की महिमा

ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायाँ वीर्य-लाभो भवत्यपि ।
सुरत्वं मानवोयाति, चान्तेयाति परांगतिम् ॥

(सूक्ति)

ब्रह्मचर्य का पालन करने से वीर्य का लाभ होता है ; ब्रह्मचर्य की रक्षा करने वाले मनुष्य को दिव्यता प्राप्त होती है, और साधना पूरी होने पर, परम गति भी उसे मिलती है।

ब्रह्मचर्य की महिमा अपार है। वाणी से उसका वर्णन करना सूर्य को दीपक से दिखाने के समान है । 'ब्रह्मचर्य' वह उग्र व्रत

है, जिसकी साधना से लोग नर से नारायण हो सकते हैं। इसके पालन से अब तक अनेक लोग देव-कोटि मे गिने गये। तभी तो भगवान् शङ्कर ने अपने मुखारविन्द से इस प्रकार कह कर आदेश किया है:—

न तपस्तपइत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्।
ऊर्ध्वरेताभवेद्यस्तु सदेवो नतुमानुषः॥

तप कुछ भी नही है। ब्रह्मचर्य ही उत्तम तप है। जिसने अपने वीर्य को वश में कर लिया है, वह देव-स्वरूप है—मनुष्य नहीं।

"एकतश्चतुरो वेदा, ब्रह्मचर्यं तथैकतः।"

(छान्दोग्योपनिषत्)

एक ओर तो चारों वेदों के उपदेश, और दूसरी ओर ब्रह्मचर्य—दोनों एक तुला पर रखकर तौले जायँ, तो दोनों पलड़े बराबर होंगे।

"तेषामेवैष स्वर्गलोको येषां तपो
ब्रह्मचर्यं, येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।"

(प्रश्नोपनिषत्)

उन्हीं लोगों को स्वर्ग मिलता है, जिन्होंने ब्रह्मचर्य जैसे तप का अनुष्ठान किया है, और जिनके हृदय मे ब्रह्मचर्य रूपी सत्य विराजमान है।

ब्रह्मचर्यं पालनीयं, देवानामपि दुर्लभम्।
वीर्यं सुरक्षितेयान्ति, सर्व लोकार्थ सिद्धयः॥

(सूक्ति)

ब्रह्मचर्य का पालन करना योग्य है। देवों के लिए भी ब्रह्मचर्य दुर्लभ है। वीर्य की रक्षा भली भाँति होने पर, सब लोकों के सुखों की सिद्धियाँ स्वयं मिल जाती हैं।

अखण्ड ब्रह्मचारी पितामह भीष्म ने धर्मराज युधिष्ठिर को ब्रह्मचर्य विषय का उपदेश किया है, उसमें भी इस महाव्रत की महिमा भले प्रकार प्रकट होती है। वह कहते हैं:—

ब्रह्मचर्यस्य सुगुणं, शृणुत्वञ्च सुधाधिया।
आजन्म मरणाद्यस्तु, ब्रह्मचारी भवेदिह॥

मैं ब्रह्मचर्य का गुण बतलाता हूँ। तुम स्थिर बुद्धि से सुनो। जो आजीवन ब्रह्मचारी रहता है, उसे इस संसार में कुछ भी दुःख नहीं होता।

न तस्य किञ्चिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप!
बहुकोटि ऋषीणाञ्च, ब्रह्मलोके वसन्त्युत॥

हे राजन्! उस पुरुष को कोई वस्तु दुर्लभ नहीं। इस बात को तुम निश्चय समझो। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से करोड़ों ऋषि ब्रह्मलोक में वास करते हैं।

सत्येरतानां सततं, दान्तानामूर्ध्व-रेतसाम्।
ब्रह्मचर्यंदहेद्राजन्! सर्वपापान्युपासितम्॥

सत्य से सदैव प्रेम करनेवाले निर्मल ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्यव्रत, हे राजन् समस्त पापों को नष्ट कर देता है।

चिरायुषः सुसंस्थाना, दृढ़संहनना नराः।
तेजस्विनो महावीर्या, भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः॥

(हेमचन्द्र सूरि)

जो लोग विधिवत् ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वे चिरायु, सुन्दर शरीर, दृढ़ कर्त्तव्य, तेजस्वितापूर्ण और बड़े पराक्रमी होते हैं।

प्राणभूतं चरित्रस्य, परब्रह्मैककारणम्।
समाचरन् ब्रह्मचर्यं, पूजितैरपिपूज्यते॥

(हेमचन्द्र सूरि)

ब्रह्मचर्य सच्चरित्रता का प्राण-स्वरूप है। इसका पालन करता हुआ मनुष्य, सुपूजित लोगों से भी पूजा जाता है।

धन्वन्तरि का ब्रह्मचर्योपदेश

भगवान् धन्वन्तरि का नाम संसार मे बहुत विख्यात है। वह आयुर्वेद का प्रचार करने वाले—पीयूष-पाणि वैद्य कहे जाते थे। ऐसा जाता है कि वह मृतक को भी एक बार अपने तप तथा दिव्यौ-षधि के प्रभाव से जीवित कर सकते थे।

वही धन्वन्तरि महाराज एक दिन शिष्यों के साथ अपने आश्रम मे बैठे हुए, आयुर्वेद का उपदेश कर रहे थे। पाठ समाप्त होने पर शिष्यों ने उनसे प्रश्न किया कि भगवान्! कोई ऐसा एक ही उपचार बतलाइए, जिसके सेवन से सर्व प्रकार के रोगों का नाश हो सके। आप मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिए अपना सबसे अनुभूत उपाय बताने की दया कीजिए।

शिष्यों के प्रश्न को सुनकर भगवान् धन्वन्तरि अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा—प्रिय वत्स! तुम लोगों को हृदय से ऐसा ही एक

उपचार बतलाता हूँ—इसकी सत्यता में मुझे तनिक सन्देह नहीं है। तुम लोग ध्यान देकर सुनो!

मृत्युव्याधिजरानाशी-पीयूषं परमौषधम्।
ब्रह्मचर्यं महद्यत्नं, सत्यमेव वदाम्यहम्॥

मैं इस बात को तुम लोगों से सत्य-सत्य कहता हूँ कि मरण, रोग तथा वृद्धता का नाश करने वाला—अमृत रूप और बहुत बड़ा उपचार, मेरे विचार से ब्रह्मचर्य है।

शान्तिकान्तिस्मृतिज्ञान मारोग्यञ्चापिसन्ततिम्।
य इच्छति महद्धर्मं, ब्रह्मचर्यं चरेदिह॥

जो शान्ति, सुन्दरता, स्मृति, ज्ञान, स्वास्थ्य और उत्तम सन्तति चाहता है, वह इस ससार मे सर्वोत्तम धर्म ब्रह्मचर्य पालन करे।

ब्रह्मचर्यं परंज्ञानं, ब्रह्मचर्यं परं बलम्॥
ब्रह्मचर्यमयो ह्यात्मा, ब्रह्मचर्यैव तिष्ठति॥

ब्रह्मचर्य सबसे उत्तम ज्ञान है। ब्रह्मचर्य अपरिमित बल है। वह आत्मा निश्चय रूप से ब्रह्मचर्यमय है, और यह मनुष्य शरीर में ब्रह्मचर्य से ही ठहरता है।

ब्रह्मचर्यं नमस्कृत्य, चासाध्यं साधयाम्यहम्।
सर्व-लक्षण हीनत्वं, हन्यते ब्रह्मचर्यया॥

ब्रह्मचर्यमय भगवान् को प्रणाम कर मैं असाध्य रोगियों को भी साध्य बनाता हूँ। उस ब्रह्मचर्य की रक्षा से सब प्रकार का अशुभ नष्ट हो जाता है

उनकी इन शिक्षाओं को सुनकर शिष्य-मण्डली मे आनन्द का

स्रोत उमड़ पड़ा। बहुत से विद्यार्थियों ने अपने हृदय मे आजीवन ब्रह्मचर्य-पालन की प्रतिज्ञा की।

प्राचीन आर्य और ब्रह्मचर्य

मन्ये विधात्रा जगदेक काननम् ।
विनिर्मितं वर्ष मिदं सुशोभनम् ॥
धर्माख्य पुष्पाणि कियन्ति यत्रवै ।
कैवल्य रूपञ्च फलं प्रचीयते ॥

यह बात सबपर विदित है कि इस देश के निवासी आर्य नाम से विश्व-मण्डल मे विख्यात थे। उनकी इस महत्ता का कारण क्या था? उनका सदाचारमय-धर्मनिष्ठ-लोकोपकारी जीवन। वे निरन्तर साधुता पूर्ण तथा उच्च चरित्र का अभ्यास करते थे। इस बात से वे बहुत उन्नत तथा सद्गुण-सम्पन्न थे। उनके जीवन को सुधारने वाला प्रधान साधन यही 'ब्रह्मचर्य' था। इसी ब्रह्मचर्य के ऊपर उनका सामाजिक तथा नैतिक जीवन प्रधानतया अधिष्ठित था, और सारे देश में सुख-शान्ति का अनुपम साम्राज्य हो गया था। पर महाभारत के साथ ही आर्यों के सिद्धान्तों का ह्रास होने लग गया। दिन पर दिन आर्यों की सब प्रकार की अवनति होती गई। अन्त में यह दशा हुई कि उन्हीं की एकमात्र सन्तान हम उनके आदर्शों के शिखर से अनाचार के कूप में गिर गये। आर्यों के उन्नत चरित्र के सम्बन्ध मे बहुत से विद्वानों ने अपने ग्रन्थों मे सुसम्मतियाँ प्रकट की है। उनके देखने से हमें पूर्ण

रूप से अनुमान हो जाता है कि कुछ ही दिन पहले, स्वदेशी शासन में, हम कितने गौरवान्वित तथा उच्च थे। हमारी ब्रह्मचर्य की प्रणाली ज्यों-ज्यों अवनत होती गई त्यों-त्यों जाति की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक अवनति भी बढ़ती ही गई।

आर्यों के विषय मे कहा गया है कि वे बड़े ऊँचे, हृष्ट-पुष्ट और पराक्रमी थे। उनका वर्ण गौर, शरीर तेजस्वी, उन्नत वक्षस्थल और दिव्य मुख-मण्डल था। बड़े नेत्र और लम्बी भुजायें थीं। युद्ध में शूरता दिखलाते थे। धर्म-पालन में दृढ़ और ईश्वर के परमभक्त थे। उनकी स्त्रियाँ सदाचारिणी, पतिभक्ता तथा देवी-स्वरूपा थीं।

ऊपर की बातों के अवलोकन से हमारे मन में यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि वे ऐसे क्यों थे, और आज हम उन्हों के वंशज होकर, इस दुर्गति को क्यों प्राप्त हैं? इसका उत्तर यह सूझता है कि इन सब अवनतियों का प्रधान कारण ब्रह्मचर्यहीनता है। ब्रह्मचर्य की साधना से आर्यों का प्राचीन समय में उत्थान हुआ था। और उसके विपरीत चलने से ही हमारा अधःपात हुआ। यदि उसी ब्रह्मचय-प्रथा को पुनर्जीवित कर दिया जाय, तो हमारे अनुमान से आर्यों की दसवीं पीढ़ी में पुनः आर्यों के वंशधर अपनी प्राचीन अवस्था को प्राप्त कर सकेंगे।

इस देश के प्राचीन आर्यों के चरित्र के सम्बन्ध में कुछ विदेशी विद्वानों के मत दिये जाते है। इन विद्वानों में प्रायः सभी भारतवर्ष मे आकर यहाँ की अवस्था अपनी आँखों देख गये है, और अपने देश में जाकर अपने ग्रन्थों में यहाँ का विस्तृत वर्णन किया है, तथा जो

कुछ कहा है, उससे उनकी निष्पक्षता प्रकट होती है:—

जोर्नस—

"धर्म तथा सभ्यता के प्राचीनत्व के विचार से पृथ्वी की कोई भी जाति आर्य-जाति के समकक्ष नहीं।"

हुयनसांग—

"सच्चरित्रता वा सत्यता के लिए आर्य-जाति चिरकाल से विश्व मे प्रसिद्ध है।"

मेगास्थनीज—

"आर्यो मे दासत्व-भाव बिल्कुल नहीं। उनकी स्त्रियों में पतिव्रत और पुरुषों मे वीरत्व असीम है। साहसिकता में आर्यजाति पृथ्वी भर को अन्य जातियों में श्रेष्ठ है—परिश्रमी, शिल्पी तथा नम्र प्रकृति है।"

मैक्समूलर—

"यदि कोई मुझसे कहे कि किस देश के आकाश के नीचे मनुष्य के अन्तःकरण को पूर्णता प्राप्त हुई, तो मैं कहूँगा कि वह देश भारतवर्ष है। जिसे पृथ्वी पर स्वर्ग कहने मे भी मुझे आनन्द होता है।"

धर्म और ब्रह्मचर्य

"धर्मणैव जगत्सुरक्षितमिदम्।"
"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा,
प्रजा उपसर्पन्ति धर्मेण।"
(नारायणोपनिषत्)

धर्म से ही यह संसार सुरक्षित है। धर्म से ही इस सृष्टि की मर्यादा है। धर्म से ही प्रजा अपने उद्देश्य को प्राप्त कर सकती है।

विचार करके देखने से विदित होता है कि वास्तव में धर्म मनुष्य-जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक साधन है। धर्म से ही सब प्रकार की उन्नति हो सकती है। धर्म मनुष्य की उस योग्यता का नाम है, जिसके आश्रय से वह अपने पद को सार्थक बनाता है। जैसे अग्नि का धर्म उष्णत्व—जल का तरलत्व है, वैसे ही इस शरीर का धर्म संयम-नियम और आत्मा का ब्रह्मचर्य है। जो पदार्थ अपने धर्म को छोड़ देता है, वह उसी समय अपने अस्तित्व को भी खो बैठता है।

उन्नति निखिला जीवा, धर्मेणैव क्रमादिह ।
विदधानाः सावधाना, लभन्तेऽपरं पदम् ॥

(महर्षि व्यास)

इस लोक मे समस्त जीव धर्म से ही विकास को प्राप्त करते है। धर्म के नियमों को पालने वाले और उसके साधन मे सावधान रहने वाले नर ही अन्त मे उत्तम पद के अधिकारी होते है, अन्य नही।

महर्षि कणाद ने अपने ग्रन्थ मे धर्म की बहुत ही विश्वव्यापक तथा अकाट्य परिभाषा की है, जो सदा और सर्वत्र एक-सी घटती है :—

"यतोऽभ्युदय निः श्रेयस सिद्धिः सधर्मः ।"

(वैशेषिकदर्शन)

जिस उपाय के अवलम्बन से इस लोक तथा परलोक दोनों का सुख प्राप्त हो, उसे धर्म कहते हैं। इसके विपरीत अधर्म है।

'अभ्युदय' नाम है—ऐहिक उन्नतियों का। सुन्दर स्वास्थ्य, दीर्घ-जीवन, प्रचुर-सम्पत्ति, सुयश तथा अच्छी सन्तान को ही लोग इस लोक की उन्नतियों में गिनते हैं। ये सभी उन्नतियाँ 'ब्रह्मचर्य' के अधीन हैं। एक ब्रह्मचारी पुरुष इन सबको सहज मे प्राप्त कर लेता है।

'निःश्रेयस' नाम है—पारलौकिक विकास का। आत्मानन्द, जीव-दया, परमोत्साह, उच्च कर्तव्य-शीलता, सद्ज्ञान और मोक्ष, इनकी गणना पारलौकिक विकास मे है। ये सभी ब्रह्मचर्य के प्रताप से सुलभ हैं : एक ब्रह्मचारी इन्हे कुछ ही दिन के सदभ्यास से, निश्चय रूप से, अधिकृत कर लेता है।

किंबहुना एक ही ब्रह्मचर्य में धर्म के दोनों उद्देश्यों की सिद्धि हो जाती है। अतएव हम ब्रह्मचर्य को ही धर्म का साक्षात् स्वरूप समझते हैं।

ब्रह्मचर्य शरीर और आत्मा का प्रधान धर्म है। इससे शारीरिक तथा मानसिक विकास स्वयं हो जाता है। इसलिए ब्रह्मचर्य को सर्व-प्रथम स्थान मिला है।

इस सम्बन्ध मे एक कथा भी प्रचलित है कि—एक बार नारद भगवान् विष्णु के पास वैकुण्ठ में गये। अभिवादन तथा कुशल-प्रश्न के पश्चात् नारद ने भगवान् से पूछा महाराज! मैं आपसे कुछ निवेदन करना चाहता हूं। इसपर विष्णु भगवान् ने उन्हे पूछने की आज्ञा दी।

उन्होंने पूछा—"हे सबके हृदय की बात जाननेवाले प्रभो!

आपकी माया में सब जीव भूले हैं। भला यह तो बताइए कि आपको सबसे प्रिय वस्तु क्या है? मैं आपके ही श्रीमुख से यह रहस्य जानना चाहता हूं।"

नारदजी का प्रश्न सुनकर भगवान् बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि 'हे ऋषिवर! आपने संसार के लाभ की इच्छा से यह प्रश्न किया है, अतएव मैं आपसे अपने मन की बात बतलाता हूँ। मुझे ब्रह्मचर्य-धर्म सबसे प्रिय है। जो पुरुष मन, वचन तथा कर्म से इसका उचित रीति से पालन करता है, वह निश्चय ही मुझको प्राप्त होता है। यही कारण है कि बड़े-बड़े योगी लोग ब्रह्मचर्य-सिद्धि के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहते। जीव के लिए ब्रह्मचर्य से बढ़कर दूसरा धर्म त्रिलोक में नहीं।' इस पर नारद भगवान की स्तुति कर वहाँ से प्रसन्न चित्त होकर अन्य कहीं के लिए विदा हुए।

सदाचार और ब्रह्मचर्य

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते, लोकस्तदनुवर्तते॥

(श्री भगवद्गीता)

श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, वैसा दूसरे लोग भी उनकी देखा-देखी करते है, और वे जो कुछ निर्धारित करते हैं, लोग उन्हीं के अनुकूल चलने लगते हैं।

"आचारः प्रथमो धर्मः।"

(मनुस्मृति)

सदाचार ही परम धर्म है। भगवान मनु ने उपर्युक्त शब्दों मे सदाचार को प्रधानता दी है।

वास्तव में मनुष्य-जीवन का सार सादाचार है। सदाचार से दोनों—व्यक्तिगत तथा सामाजिक—सुधार हो सकते है। जो जाति और जो देश अपने सदाचार से पतित नहीं होता, वह अपनी सुखमय अवस्था से हीन नहीं हो सकता।

सदाचार का अर्थ है—सज्जनों का आचरण। वे उत्तम नियम, जिन पर कि उच्च पुरुप चलते हैं—अथवा शास्त्र-सममत वे कार्य, जिनके करने से मनुष्य-समाज को सुख और शान्ति मिलती है।

यह बात सभी लोग जानते है कि हमारे ऋपि-महर्पि सदाचारी और श्रेष्ठ पुरुप थे। उनके निर्धारित किये हुए कर्म भी सदाचार है। वे जैसा आचरण करते थे, वैसा ही प्रजा को भी करने का उपदेश देते थे। वे भी ब्रह्मचर्य को सदाचार मानते थे। यही कारण था कि प्राचीन कालिक जनता ब्रह्मचर्य के पालन में अत्यधिक उद्यत थी।

धर्मज्ञ-शिरोभूपण मनु ने सदाचार से प्राप्त होने वाले उत्तम फलों का इस प्रकार वर्णन किया है :—

आचाराल्लभते ह्यायुराचादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धन मक्षय्य माचारो हन्त्यलक्षणम्॥

(मनुस्मृति)

सदाचार का पालन करने से मनुष्य को दीर्घायु, मनचाही सन्तान और अमित धन मिलता है। सदाचार से अनेक दुर्गुण भी नष्ट हो जाते है। वह फिर कहते हैं —

सर्व लक्षण-हीनोऽपि, यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च, शतं वर्षाणि जीवति ॥

(मनुस्मृति)

सब शुभ लक्षणों से रहित होने पर भी, जो सदाचारी पुरुष है—शास्त्रों पर श्रद्धा रखने वाला और ईर्ष्या से घृणा रखने वाला है, वह सौ वर्षो तक जीता है ।

ऊपर जिन ऊंचे उद्देश्यों की सिद्धि सदाचार से होती है, सो सब ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत है। अतएव वह सदाचार यही ब्रह्मचर्य है। हम सदाचार को ब्रह्मचर्य से पृथक् नहीं कर सकते।

'ब्रह्मचर्य' ही मूल सदाचार है। क्योंकि सदाचार के जितने गुण है, वे सब इसके भीतर आ जाते हैं।

जैसे सदाचार से समस्त दोषों का नाश होता है, वैसे ब्रह्मचर्य से भी किया जा सकता है। अतः ब्रह्मचारी सच्चा सदाचारी है।

तप और ब्रह्मचर्य

"तपो वै ब्रह्मचर्यम् ।"

(श्रुति)

वास्तव मे ब्रह्मचर्य ही तप है।

"तपो मे हृदयं साक्षात् ।"

(भगवान् विष्णु)

तप मेरा साक्षात् हृदय है।

पुराणों तथा और अच्छे ग्रन्थों में लिखा है कि भारत के ऋषि-

महर्षि तप करते थे—उन लोगों का जीवन प्रायः तप के अनुष्ठान मे ही वीतता था। यही कारण था कि वे अपने तपोबल से पृथिवी पर मनुष्य-जाति का महान् हित कर आदरणीय बनते थे।

ऊपर की बात जान कर मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वह तप क्या था ? वह 'ब्रह्मचर्य' ही था! उसकी रक्षा के लिए विविध प्रकार के उपाय किये जाते थे। उसीकी एकमात्र साधना से बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त होती थीं। उसके एक बार खण्डित होने से भी तपस्वियों के अनेक वर्ष का परिश्रम और अनुष्ठान नष्ट हो जाता था। वे जो कुछ करना चाहते थे, वह मनोरथ नहीं सधता था। वे लोग उसी ब्रह्मचर्य की रक्षा करने के लिए नगरों को त्याग कर वनों में तथा पर्वतों पर जा कर रहते थे। फलाहार कर अपने शरीर को क्षीण कर देते थे। बहुत से लोग वृक्षों के पत्तों, वनस्पतियों तथा वायु पर ही अपना निर्वाह करते थे। देह के दुर्वल हो जाने से उन्हे काम-विकार नहीं सताता था। काम-विकार के न उत्पन्न होने से उनका वीर्य रक्षित रहता था। वीर्य के सुरक्षित रहने से आत्म-तेज बढ़ता था, जिस से चित्त मे शान्ति आती थी। चित्त के स्थिर हो जाने के कारण वे योग कर सकते थे। अर्थात् मन को आत्मा या परमात्मा मे लीन करते थे। इस प्रकार उन्हें उस ज्ञान या परमानन्द की प्राप्ति हो जाती थी, जिस से वे मुक्ति-पद (परम शान्ति) को पा जाते थे। जो तपस्वी अपनी इस साधना में सफल हो जाते थे, वे ही सफल मनोरथ होते थे इसीसे भगवान शिव ने इस प्रकार अपने हृदय का भाव प्रकट किया है :—

"न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यंतपोत्तमम् ।"

(तन्त्रशास्त्र)

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी गीता में शारीरिक, वाचिक और मानसिक—इन तीन प्रकार के तपों का वर्णन किया है। उसे हम यहाँ देते है :—

देवद्विजगुरुप्राज्ञ-पूजनं, शौच मार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसाच, शारीरं तप उच्यते ॥

(श्रीभगवद्गीता)

देव, द्विज, गुरु और विद्वान् की पूजा (सत्कार) पवित्रता और सरलता तथा ब्रह्मचर्य और अहिंसा को शारीरिक तप कहते हैं।

अनुद्वेग-करं वाक्यं, सत्यं प्रिय हितञ्चयत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव, वाङ्मयं तप उच्यते ॥

(श्रीभगवद्गीता)

किसीका हृदय न दुखाने वाला, सत्य-प्रिय तथा परोपकारी वचन, और वेदों के अभ्यास को वाचिक तप कहते हैं।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं, मौनमात्म-विनिग्रहः ।
भाव-संशुद्धि रित्येतत्तपो मानस उच्यते ॥

(श्रीभगवद्गीता)

चित्त की प्रसन्नता, सौम्यता, मननशीलता विषयों से विरक्तता तथा भावों की शुद्धता को मानसिक तप कहते है।

भगवान् श्रीकृष्ण के मत से भी ब्रह्मचर्य की गणना शारीरिक तप में हुई है। पर हमारे विचार से ऊपर जिन तपों का वर्णन

किया गया है, वे सभी साधनायें एक ब्रह्मचर्य के ही अन्तर्गत आ जाती हैं। ब्रह्मचर्य के बिना पालन किये वे कदापि निभ नहीं सकतीं। अतएव ब्रह्मचर्य को महा तप जानना चाहिए।

हमने ब्रह्मचर्य को ही तप सिद्ध किया है। प्राचीनकाल में प्रधानतया यही तप साधा जाता था। इस मत की पुष्टि नीचे लिखे वैदिक मन्त्र से भी होती है:—

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।"

(अथर्ववेद)

ब्रह्मचर्य रूपी तप से देवों को अमरता प्राप्त हुई।

आजकल जो तप के नाम से प्रसिद्ध है, वह वास्तव में यही ब्रह्मचर्य था, जिसके लिए अनेक वर्ष तक लोग बल-पूर्वक तपस्या करते थे, और उसके निर्विघ्न अभ्यस्त हो जाने पर, ब्रह्म की प्राप्ति होती थी एवं ब्रह्मचर्य सिद्ध हो जाता था।

योग और ब्रह्मचर्य

योगात्संप्राप्यते ज्ञानं, योगो धर्मस्यलक्षणम्।
योगो परन्तपोज्ञेयस्तस्माद् योगं समभ्यसेत्॥

(महामुनि अत्रि)

योग से ज्ञान की प्राप्ति होती है—योग ही धर्म का रूप है, और योग ही परम तप माना जाता है। अतएव ऐसे योग का अभ्यास करना चाहिए।

महर्षि पातञ्जलि ने अपने शास्त्र में योग का लक्षण इस प्रकार किया है:—

"योगश्चित्त-वृत्ति-निरोधः"

(योगदर्शन)

चित्त की वृत्तियों को रोकने का नाम योग है। जबतक चित्त-वृत्तियाँ अपने अधिकार में नहीं हो जातीं तबतक लाख उपाय करने पर भी रोके नहीं रुक सकतीं। चित्त-वृत्तियों को अधिकार में करने के लिए, मन की साधना की जाती है। यह मन की साधना बिना ब्रह्मचर्य के हो नहीं सकती। यही कारण है कि योग करने के पहले, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना पड़ता है। जिस का ब्रह्मचर्य स्थित नहीं, वह पुरुष योग-भ्रष्ट हो कर अपने अनुष्ठान से गिर जाता है। एक ब्रह्मचारी पुरुष में चित्त-वृत्ति को रोकने की शक्ति रह सकती है।

योग का उद्देश्य आत्मा और परमात्मा को प्राप्त करना है। उपनिषदों में आत्मा और परमात्मा में लीन होने के उपायों का वर्णन है। जैसे:—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा।
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्॥
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो।
यं पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषाः॥

सत्य से, तप से, पूर्ण ज्ञान से और अविचल ब्रह्मचर्य से आत्मा (ईश्वर) की प्राप्ति हो सकती है। वह अन्तःकरण में जोतिर्मय और

निर्मल रूप से विराजमान है। जो लोग सिद्ध और निष्पाप हैं, वे ही उसके दर्शन कर सकते हैं।

सत्य, तप और आत्मज्ञान सब योग से ही सिद्ध होते हैं। यह योग भी ब्रह्मचर्य पर स्थित है। इसलिए ब्रह्मचर्य ही सच्चा योग है। इसका निभाने वाला पुरुष ही कर्मनिष्ट योगी है। जिस चित्त-वृत्ति-निरोध से योग सिद्ध होता है, उसीसे ब्रह्मचर्य का भी पालन किया जाता है।

योग-शास्त्र में योग के साधने की तीन क्रियायें या साधन इस प्रकार बतलाये गये हैं:—

"तपः स्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि क्रिया-योगः।"

तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान को क्रिया-योग कहते हैं। हमारे ब्रह्मचर्य में भी ये तीनों क्रियायें प्रधानरूप से विद्यमान हैं। जिन आठ अंगों से योग सिद्ध होता है, उन्हीं के पालन से ब्रह्मचर्य की भी पूर्णता प्राप्त होती है।

सत्य और ब्रह्मचर्य

सत्येन धार्यते पृथ्वी, सत्येन तपते रविः।
सत्येन वातिवायुश्च, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

सत्य से पृथ्वी ठहरी हुई है, सत्य से सूर्य अपना प्रकाश करता है, और सत्य से ही वायु चलती है। एक सत्य में सब कुछ प्रतिष्ठित है।

वास्तव में संसार का बीजरूप एक सत्य ही है। सभी पदार्थों में सत्य विराजमान है। जहाँ वह नहीं है, वहाँ कुछ भी नहीं रह सकता। जिस पदार्थ का सत्य नष्ट हो जाता है वह स्वयं ही नाश को प्राप्त होता है। सत्य का ही दूसरा नाम अस्तित्व है।

इस शरीर का सत्य बल है—इसके भीतर रहने वाले आत्मा का सत्य ब्रह्मचर्य है। बल के न रहने पर शरीर और ब्रह्मचर्य से हीन होने पर आत्मा का अस्तित्व नहीं रह सकता। जैसा कि उपनिषदों में लिखा है:—

सत्यमेव जयते नानृतम्।
सत्येन पन्थाविततो देवयानः॥
येनाक्रमन्तृपयो ह्यासकामा।
यत्रतत्सत्यस्य परमंनिधानम्॥

सत्य की ही जय होती है, असत्य की नहीं। सत्य से ही देवों का मार्ग मिलता है ऋषि लोग भी सत्य के प्रभाव से सफल होते हैं। जहाँ सत्य की सत्ता है वहां सब सुख है।

जिस सत्य का वर्णन ऊपर आया है, वह यही ब्रह्मचर्य है। जो पुरुष ब्रह्मचर्य का नाश करता है, वह अपने को सत्य से पृथक् करता है। इसके पालन से मनुष्य सत्य को अधिकार में कर लेता है, और वह सत्य उसको सुखी बनाता है।

हमारे भीष्म पितामह ने ब्रह्मचर्य को सत्य शब्द से अभिहित किया है। अपनी प्रतिज्ञा को दृढ़ता प्रकट करने के लिए, उन्होंने सत्य का ही नाम लेकर, ब्रह्मचर्य को महत्व दिया है।

विक्रमं वृत्रहा जह्याद्धर्मं जह्याच्च धर्मराट् ।
नत्वहं सत्यमुत्स्रष्टुं व्यवसेयं कथञ्चन ॥

(महाभारत)

चाहे इन्द्र अपने पराक्रम को छोड़ दें, और धर्मराज अपने धर्म को छोड़ दें, पर जिस (ब्रह्मचर्य) को मैंने धारण किया है, उसे कदापि नहीं छोड़ सकता ।

जिस पुरुष के हृदय में सत्य की कुछ भी प्रतिष्ठा है—जो सत्य का पालन करना चाहता है, वह इस ब्रह्मचर्य रूपी सत्य का पालन कर सद्गति को प्राप्त होगा ।

कर्तव्य और ब्रह्मचर्य

"जयं प्राप्नोति संग्रामे, यः सुकार्याण्यनुष्ठते ।"

(विदुरनीति)

सत्कर्तव्य का पालन करने वाला ही पुरुष संग्राम में विजय-लाभ करता है ।

कर्त्तव्य मेव कर्त्तव्यं, प्राणैःकण्ठगतैरपि ।
अकर्त्तव्यं न कर्त्तव्यं, प्राणैःकण्ठगतैरपि ॥

(नीति-शास्त्र)

अपने कर्तव्य का पालन प्राणों के निकलने तक करना चाहिए ! पर जिसे हम अकर्त्तव्य समझते है, उसे प्राणों के जाने पर भी करना योग्य नहीं ।

हम ब्रह्मचर्य को ही सब कर्त्तव्यों का कर्त्तव्य मानते हैं। संसार के सारे कर्त्तव्य एक ब्रह्मचर्य की आवश्यकता रखते हैं। ब्रह्मचर्य के बिना एक भी कर्त्तय नहीं हो सकता।

"कर्त्तव्यं सर्व-साधकम्।"

(सूक्ति)

कर्त्तव्य ही मनुष्य के सब कार्यों को साधने वाला है। ब्रह्मचर्य ही सबका साधने वाला है। अतएव वह पूर्ण रूप से कर्त्तव्य कहा जा सकता है। इस कर्त्तव्य के सामने विश्व के सभी कर्त्तव्य मूक हो जाते हैं। इस ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला पुरुष ही सच्चा कर्तव्य-शील है, और वह सब सुखों को सहज मे प्राप्त कर लेता है।

तैत्तिरियोपनिषद् मे आचार्य-द्वारा कर्त्तव्य की वहुत ही उत्तम परिभाषा की गई है, और इसी वचन में कर्तव्य-पालन की आज्ञा भी ब्रह्मचारी को दी है। यथाः—

"यान्यनवद्यानिकर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि।"

(उपनिषत्)

जो निर्दोष कर्म हैं, वे कर्तव्य हैं। उन्ही का सेवन करना चाहिए दूसरों का नहीं।

इससे यह विदित होता है कि जितने दोष-रहित कर्म हैं, सबकी गणना कर्त्तव्य मे हैं। उनका पालन करना शास्त्र-सङ्गत है। वे सभी कर्त्तव्य ब्रह्मचर्य के बिना नहीं सध सकते। अतः इस प्रकार से भी ब्रह्मचर्य सब कर्त्तव्यों का मूल है।

यम-नियम और ब्रह्मचर्य

"अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।"

(योगदर्शन)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम कहलाते हैं।

मन, वचन और कर्म से किसी को कष्ट न देने का नाम 'अहिंसा' है। जैसा कुछ देखा-सुना और जो मन में हो उसे उसी रूप में कहने को 'सत्य' कहते हैं। पराये धन का लोभ न करना 'अस्तेय' है। उपस्थेन्द्रिय का संयम तथा वीर्य-रक्षा का नाम 'ब्रह्मचर्य' और शरीर-यात्रा के निर्वाह से अधिक भोगसामग्री का एकत्र न करना 'अपरिग्रह' कहलाता है।

महर्षि पतञ्जलि यमों के पालन के लाभ इस प्रकार बताते हैं:—

"अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।"

(योगदर्शन)

अहिंसा के पालन से वैर-भाव का त्याग होता है। अर्थात् सब जीवों पर दया करने से वे भी प्रेम करते हैं।

सत्य-प्रतिष्ठायां क्रिया-फलाश्रयत्वम् ।"

(योगदर्शन)

'सत्य' के पालन से सभी कार्य सिद्ध होते हैं। वचन के प्रभाव से दूसरों तथा अपने को सुख मिलता है।

"अस्तेय-प्रतिष्ठायां सर्व-रत्नोपस्थानम् ।"

(योगदर्शन)

'अस्तेय' के पालन से सब कुछ स्वयं प्राप्त हो जाता है। अर्थात् वह सबका विश्वासपात्र बनता है।

"ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायां वीर्य-लाभः।"

(योगदर्शन)

'ब्रह्मचर्य' का पालन करने से वीर्य का लाभ होता है। उसे शारीरिक और मानसिक बल की प्राप्ति होती है।

"अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।"

(योगदर्शन)

'अपरिग्रह' के पालन से जन्मसुधार के विचार उत्पन्न होते हैं। हृदय मे निस्वार्थता का भाव उदित होता है।

महर्षि पतञ्जलि ने इन पाँचों यमों को आकान्त्य तथा सार्व-भौम महाव्रत माना है। अर्थात् इनका पालन सब जाति, सब देश, सब समय और सब अवस्था में किया जा सकता है।

वे अपने योगदर्शन में नियमों के पालन से लाभ भी इस प्रकार बताते हैः—

"शौच-सन्तोष तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधनानि नियमाः।"

(योगदर्शन)

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये पांच नियम कहलाते है।

शारीरिक और मानसिक पवित्रता का नाम 'शौच' है। भोग के साधनों की अनिच्छा का नाम 'सन्तोष' है। सुख-दुःख, शीत-उष्णादि द्वन्द्व सहने, तथा परिमित अहार-विहार करने का

नाम 'तप' है। ओंकारादि जप और वेद-शास्त्रों के अध्ययन का नाम 'स्वाध्याय' है, और फल-रहित परमात्मा की उपासना का नाम 'ईश्वर-प्रणिधान' है।

"शौचस्त्वाग जुगुप्सा परैरसंसर्गः।"
"सत्वशुद्धि सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रिय जयात्मदर्शनयोग्यत्वानिच।"

(योगदर्शन)

बाह्य 'शौच' से शरीर का मोह और पराये के साथ सम्बन्ध की इच्छा नहीं रहती। 'आभ्यन्तर' शौच से मन की शुद्धि, प्रसन्नता एकाग्रता, इन्द्रिय-जय और आत्म-दर्शन की योग्यता प्राप्त होती है।

"सन्तोषादनुत्तम सुखलाभः।" (योगदर्शन)

'सन्तोष' की साधना से परम सुख मिलता है। तृष्णा का नाश होने से मन की अशान्ति दूर हो जाती है।

"कायेन्द्रिय शुद्धिरशुद्धि क्षयात्तपसः।"

(योगदर्शन)

'तप' की साधना से सुन्दर स्वाध्याय और इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त होता है।

"स्वाध्यायादिष्ट देवता संप्रयोगः।"

(योगदर्शन)

'स्वाध्याय' करने से इष्ट-साधन और आत्मज्ञान की उपलब्धि होती है।

"समाधि सिद्धिरीश्वर-प्रणिधानात्।"

(योगदर्शन)

'ईश्वर-प्रणिधान' से समाधि (अत्यन्त शान्ति) मिलती है।

आत्मा या परमात्मा में लीन होने पर कोई सुख फिर शेष नहीं रहता। यह सर्व-सम्मत सिद्धान्त है।

यद्यपि यम और नियम योग के अंग है, तथापि ये 'ब्रह्मचर्य' के भी प्रधान अंग हैं। ब्रह्मचर्य की दशा में प्रत्येक ब्रह्मचारी को पाँच यमो और पाँच नियमों का पालन नितान्त आवश्यक है। बिना इनके ब्रह्मचर्य को कदापि सिद्धि नहीं हो सकती है।

धर्माचार्य मनु ने भी यम और नियमों के सम्बन्ध में अपनी ऐसी ही सम्मति प्रकट की है:—

यमान्सेवत सततं, न नित्यं नियमान्बुधः।
यमान्पतत्यकुर्वाणो, नियमान्केवलान्भजन्॥

(मनुस्मृति)

बुद्धिमान् सदैव यमों का सेवन करे, नियमों का पालन नित्य न भी करे तो कोई विशेष हानि नहीं होती। क्योंकि यमों का पालन न करने वाला मनुष्य केवल नियमों का पालन करता हुआ भी पतित हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन न करने वाला पुरुष शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान करते रहने पर भी कार्य मे असफल होता है। अतएव यम और नियम दोनों की समान रूप से प्रतिष्ठा करनी चाहिए। क्योंकि ब्रह्मचर्य के ये दोनों आवश्यक अंग हैं, या यों समझिए कि ब्रह्मचर्य रूपी आत्मा इन्हीं यम-नियमों से बने हुए शरीर मे वास करता है।

यज्ञ और ब्रह्मचर्य

"यज्ञाद्भवति पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नसम्भवः

(मनुस्मृति)

यज्ञ से मेघ की उत्पत्ति होती है, और मेघ से अन्न पैदा होता है।

यज्ञ की महिमा वेदों में विविध प्रकार से गाई गई हैं। जिसके द्वारा परमात्मा जाना जाय, ज्ञानी उसे 'यज्ञ' कहते हैं। यही कारण है कि उपनिषदों में ब्रह्मचर्य का यज्ञ-रूप से वर्णन किया गया है।

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव। तद् ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता, तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेवतद्ब्रह्मचर्येण ह्येवाऽऽत्मानमनुविंदते।

(छन्दोग्योपनिषत्)

जिसे 'यज्ञ' कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही है। उस ब्रह्मचर्य का जानने वाला ब्रह्म को प्राप्त होता है। जिसको 'इष्ट' कहते है वह ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य द्वारा यजन करके ही पुरुष ब्रह्म को पाता है।

"लोग जिसे 'सात्रायण' यज्ञ कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि ब्रह्मचर्य से ही अविनाशी जीव की रक्षा होती है। जिसे 'मौन' कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि ब्रह्मचर्य से ही परमात्मा का मनन किया जा सकता है। जिसे 'अनशनायन' कहा गया है, वह भी ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि ब्रह्मचर्य से प्राप्त किया हुआ आत्म-भाव नष्ट नहीं होता। जिसे 'अरण्यायन' कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही हैं। क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ब्रह्मपुरी (कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड

का फल) मिलती है। जो पुरुष इस ब्रह्मचर्यरूपी यज्ञ का अनुष्ठान करते है, वे अग्नि-स्वरूप होकर अपने तथा औरों के पापों को भी तृण को भांति भस्म कर देते हैं।"

एक स्थान पर ब्रह्मचर्य को यज्ञ मानकर ब्रह्मचारी को यज्ञकर्त्ता माना गया है। यज्ञ के प्रधान-प्रधान अग, ब्रह्मचारी के कार्यों पर, रूपकालंकार में घटाये गये हैं। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचर्य की अवस्था ही यज्ञ है। ब्रह्मचारी को यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं, उसे तो यों ही यज्ञ का फल प्राप्त होता है।

महर्षि अंगिरा के पुत्र घोरनामा ऋषि ने देवकी के पुत्र श्रीकृष्ण से अध्ययन के समय कहा कि ब्रह्मचारी के लिए विशेष कर्म नहीं हैं। उसे मरणकाल में चाहिए कि इस प्रकार कह कर मुक्त हो जायः—

हे परमात्मन्। आप 'अविनाशी' है। हे देव। आप 'एकरस' रहने वाले हैं, और आप ही 'जीवनदाता तथा अतिसूक्ष्म' हैं।

बस, इतने से ही उसकी सद्‌गति हो जायगी। इसका अभिप्राय यह है कि यही उसके लिए अन्तिम यज्ञ है।

दो आदर्श ब्रह्मचारी

ब्रह्मचारी सिंचति सानौ रेतः।
पृथिव्यां तेनजीवन्ति प्रदि शश्रतस्त्रः।

(अथर्ववेद)

ब्रह्मचारी अपने सद्ज्ञान, पराक्रम, सिद्धान्त, सदाचार तथा उत्तम गुणों को, बड़े-छोटे का विचार न कर, सबमें फैलाता है। इससे चारों ओर की जनता में नवजीवन का संचार होता है।

इस देश में अनेक पुरुषों ने ब्रह्मचर्य-पालन की चेष्टा की है। उनमे से कुछ लोग अपने व्रत से विचलित भी हो गये। बहुतों को सफलता भी मिली। नीचे हम दो आदर्श ब्रह्मचारियों का परिचय देते हैं, जो वास्तव में अद्वितीय हुए हैं! वे अपने ब्रह्मचर्य के प्रभाव से आज भी जनता के श्रद्धा-भाजन हो रहे हैं। समस्त भारत के आर्य-साहित्य में उन दोनों महानुभावों का व्यक्तिगत जीवन हमें अमूल्य शिक्षा प्रदान करता है।

इनमें से पहले ब्रह्मचारी का नाम जगद्विख्यात महावीर हनूमान है, इनकी कथा रामायण में है। यह अपने जीवन-पर्यन्त अक्षुण्ण ब्रह्मचारी रहे। इन्होंने अपने ब्रह्मचर्य का अंतिम सीमा तक पालन किया। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से इनका शरीर वज्र के समान हृष्ट-पुष्ट हो गया था। उस महावीर्य के प्रभाव से कठिन से कठिन कार्य कर सकते थे। इनके ब्रह्मचर्य का उद्देश्य केवल सेवा-कार्य था। इन्होंने बली से बली राक्षसों का मद चूर्ण कर डाला। अनुकरणीय स्वामीभक्ति, असीम पराक्रम, तेजस्वी स्वभाव और पवित्र

अन्तःकरण के लिए भी यह परम प्रसिद्ध थे । इन गुणों से युक्त होने पर भी, वह बहुत बड़े विद्वान और मेधावी थे । वक्तृत्वकला से दूसरों का हृदय अपनी ओर भली भाँति खींचना जानते थे ।

एक स्थान पर श्रीरामचन्द्र भगवान् ने स्वयं अपने मुख से हनूमान की विद्वत्ता और वाक्-चातुरी की भूरि-भूर प्रशंसा की है । वह कथा यों है:—

महाबली बालि ने अपने भाई सुग्रीव को मार-पीट कर घर से निकाल दिया था । वह ऋष्यमूक पर्वत पर जाकर इन्हीं हनूमान के साथ रहने लगे थे । एक दिन श्रीरामजी जानकीजी को खोजते हुए लक्ष्मण के साथ उधर आ निकले । सुग्रीव के मन मे सन्देह और भय हुआ । उसने हनूमान को रहस्य लेने के लिए भेजा । हनूमान भी विप्ररूप धर कर श्रीराम और लक्ष्मण से मिले । उनके भाषण से प्रसन्न होकर श्रीराम ने लक्ष्मण से कहा :—

तमभ्यभाष सौमित्रे ! सुग्रीवसचिवं कपिम् ।
वाक्यज्ञ मधुरैर्वाक्यैः, स्नेहयुक्त मरिन्दमम् ॥
नानृग्वेद विनीतस्य, नायजुर्वेद धारिणः ।
नासामवेद-विदुषः, शक्यमेवं विभाषितुम् ॥
नूनं व्याकरणं कृतस्न मनेन बहुधा श्रुतम् ।
बहु व्याहरतानेन, न किंचिदपशब्दितम् ॥
न मुखेनेत्रयोश्चापि, ललाटे च भ्रुवोस्तथा ।
अन्येष्वपि च सर्वेषु, दोषः संविदितः क्वचित् ॥
अविस्तर मसन्दिग्ध मविलम्बित मव्ययम् ।
उरस्थं कण्ठगं वाक्यं, वर्त्तते मध्यमस्वरम् ॥

संस्कार क्रम-सम्पन्ना मद्भुता मविलम्बिताम् ।
उच्चारयति कल्याणीं, वाचं हृदय-हर्षिणीम् ॥
(वाल्मीकि-रामायण किष्किंधाकाण्ड)

हे लक्ष्मण ! मधुर वाक्य से स्नेह-युक्त सुग्रीव के वाणी-विशारद सचिव हनूमान से भाषण कर, यह ज्ञात हुआ कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद के न जानने वाले इस प्रकार का भाषण नहीं कर सकते । यह वेद-शास्त्रज्ञ जान पड़ते हैं। निश्चय ही उन्होंने व्याकरण का अच्छा अध्ययन किया है। कारण यह है कि इन्होंने इतना अधिक बोलने पर एक भी अशुद्धि नहीं की। मुख में, नेत्रों में और भ्रूभाग मे तथा अन्य किसी भी अवयव मे इनके कहीं भी दोष नहीं दिखलाई पड़ा।

सूक्ष्म रीति से, स्पष्ट-स्पष्ट, अस्खलित श्रुति-मधुर न तो बहुत धीरे-धीरे और न बहुत जोर-जोर से, अर्थात् मध्यम स्वर में इन्होंने भाषण किया है। सुसंस्कृत नियमयुक्त, अद्भुत प्रकार से, प्रिय तथा हृदय को हर्षित करनेवाली वाणी इनके मुख से उच्चरित हुई है।"

श्री जानकी को खोजते हुए वानर लोग समुद्र-तीर पर पहुँचे। सबने समुद्र लाँघने के लिए अपने-अपने बल का वर्णन किया। जाम्बवन्त ने देखा कि बिना हनूमान के काम न चलेगा। अतः उन्होंने उन्हे उत्कर्ष-वचनों द्वारा उत्साहित किया। इसपर हनूमान ने उत्तेजित होकर वानरी सेना को इस प्रकार संतुष्ट किया:—

यथा राघव-निर्मुक्तः, शरः श्वसन-विक्रमः ।
गच्छेत्तद्वद्गमिष्यामि, लंकां रावणपालिताम् ॥

नहि द्रक्ष्यामि यदितां, लंकायां जनकात्मजाम्।
अनेनैव हि वेगेन, गमिष्यामि सुरालयम्॥
यदिवात्रिदिवे सीतां, न द्रक्ष्यामि कृतश्रमः।
बद्ध्वा राक्षस-राजान मानयिष्यामि रावणम्॥
सर्वथा कृत कार्योऽह मेष्यामि सह सीतया।
आनयिष्यामि वालंकां, समुत्पाट्य सरावणम्॥

(वाल्मीकि-रामायण)

"जिस प्रकार श्रीरामचन्द्र का चलाया हुआ बाण सन-सन् करता हुआ जाता है, उसी भाँति मैं रावण के द्वारा रक्षित लंकापुरी मे जाऊँगा। यदि मैं उस लंका में जानकी को न देखूँगा, तो उसी वेग से स्वर्ग मे चला जाऊँगा। यदि मैं इतना परिश्रम करने पर भी त्रिलोक में सीता को न पा सकूँगा, तो मैं राक्षसों के राजा रावण को बाँध कर यहाँ ले आऊँगा। या तो मैं कृतकार्य होकर सीता के साथ आऊंगा, या लंका को भलीभाँति नष्ट-भ्रष्ट करके रावण को साथ पकड़ ले आऊंगा।"

वाणी मे कैसा तेज! हृदय में कैसा जोश और कैसी दृढ़ता! यह ब्रह्मचर्य का ही प्रभाव है।

× × × ×

महाभारत के चरित-नायकों में भीष्म पितामह प्रधान माने जाते है। इनका स्वार्थ त्याग, उच्च-धर्मनीतिज्ञता, अद्भुत पराक्रम, शस्त्रास्त्र चलाने में निपुणता, युद्ध-कौशल, विपुल पाण्डित्य तथा उदार चरित्र प्रायः सबपर विख्यात है।

यह बाल-ब्रह्मचारी थे। पहले इनका नाम 'देवव्रत' था, पर जबसे इन्होंने अपने पिता के विवाह के लिए ब्रह्मचर्य की कठिन प्रतिज्ञा की तब से लोग इन्हे 'भीष्म' कहने लगे।

इस महापुरुष के उन्नत व्यक्तित्व के सम्बन्ध में एक बहुत ही प्रचलित और उत्तम श्लोक है :—

भीष्मः सर्व गुणोपेतः, ब्रह्मचारी दृढ़व्रतः।
लोक-विश्रुत कीर्तिश्च, सद्धर्माभून्माहामतिः॥

(सूक्ति)

भीष्म सर्व गुण-सम्पन्न, ब्रह्मचारी, दृढ़व्रती, धर्म के पालन करने वाले, बुद्धिमान और संसार में बड़े यशस्वी पुरुष थे।

भीष्म की विमाता ने वंश-विच्छेद होता हुआ देखकर इनको विवाह कर लेने की आज्ञा दी। महर्षि व्यास ने भी ब्रह्मचर्य छोडकर विवाह करने के लिए बहुत प्रकार से समझाया। बहुत से लोगों ने इन्हे अपनी प्रतिज्ञा छोड़ने के लिए आग्रह किया, पर इस मनस्वी ने अपना प्रण नहीं छोड़ा। उन्होंने अपने विचार की दृढ़ता इन ओजस्वी शब्दों मे प्रकट की :—

त्यजेच्च पृथ्वी गन्धमापश्चरस मात्मनः
ज्योतिस्तथा त्यजेद्रूपं, वायुःस्पर्शगुणंत्यजेत्॥
विक्रमं वृत्रहाजह्याद्धर्मं जह्याच्च धर्मराट्।
नत्वहं सत्यमुत्स्रष्टुं, व्यवसेयं कथंचन॥

(महाभारत)

"चाहे भूमि अपना गुण गन्ध छोड दे, जल अपना तरलत्व

त्याग दे, सूर्य अपना तेज छोड़ दे, वायु अपना स्पर्श त्याग दे, इन्द्र पराक्रम-रहित होजाय, और धर्मराज धर्म से विमुख होकर रहे, पर मैं जिस ब्रह्मचर्य-रूपी सत्य को धारण कर चुका हूं उसे कदापि नहीं छोड़ सकता।"

ब्रह्मचर्य के दो बड़े आचार्य

"आचार्यो ब्रह्मचर्येण, ब्राह्मचारिण मिच्छते।"

(अथर्ववेद)

आचार्य अपने ब्रह्मचर्य के बल से ब्रह्मचारियों का हित करता है। अर्थात् योग्य बनाता है।

'आचार्यः परमः पिता।'

(सूक्ति)

आचार्य विद्यार्थी का परम पिता होता है।

प्राचीन समय मे ब्रह्मचर्य के अनेक आचार्य होगये है। देव लोग तो ब्रह्मचर्य-व्रत के लिए प्रधान माने ही जाते थे, पर असुर लोग भी विद्वानों की कृपा से इस महाव्रत का महात्म्य जानते थे। आचार्यो का यही काम था कि वे स्वयं ब्रह्मचर्य के लिए दृढ़ संकल्प रहते थे और अपने शिष्यों को भी इसका पाठ पढ़ा देते थे। इनमे महादेव भगवान् शंकर और दानव-गुरु शुक्र बहुत बड़े थे।

भगवान् शंकर परम योगी थे। वह 'ब्रह्मचर्य' के अधिष्ठाता और शिक्षक थे। सुर और असुर इनकी प्रसन्नता के लिए, और वरदान

प्राप्त करने की इच्छा से ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते और वांछित वर पाते थे।

एक बार की बात है कि यह तपस्या कर रहे थे। इन्द्र ने कामदेव को इनके पास तपोभङ्ग करने के लिए भेजा। वह भी कैलास में पहुँच कर, एक वृक्ष की ओट से, अपना बाण शङ्कर पर चलाने लगे। शंकर के मन मे क्षोभ उत्पन्न हुआ। वह अपने योग-बल से इसका कारण समझ गये। उन्हें कामदेव के कपट-व्यवहार पर अत्यन्त क्रोध हुआ, और उन्होंने अपना प्रलयंकारी तृतीय नेत्र खोल दिया। इस घटना का उल्लेख महाकवि कालिदास ने बड़े ही सुन्दर ढंग से 'कुमार-सम्भव' में इस प्रकार किया है। उसे हम यहाँ देते हैं :—

क्रोधं प्रभो ! संहर संहरेति।
यावद् गिरा खे मरतां चरन्ति॥
तावत्स वह्निर्भवनेत्र-जन्मा।
भस्मावशेषं मदनश्चकार॥

"हे प्रभो ! अपने क्रोध को शान्त कीजिए ! शान्त कीजिए।" जबतक ये शब्द आकाश-पथ मे गूजे, तबतक तो शिव के उग्र नेत्र से उत्पन्न उस अग्नि ने कामदेव को जला कर भस्म कर डाला।

इस घटना का एक आध्यात्मिक रहस्य सुनिए !

मनुष्य का शरीर ही कैलाश है। उसमें योगयुक्त रहने वाला वीर्यमय जीव ही 'शंकर' है। मनोविकार ही 'कामदेव' है, और विवेक ही दोप-नाशक 'तीसरा नेत्र'। ब्रह्मचर्य की अवस्था मे मनोविकार उसका अनुष्ठान भङ्ग करना चाहता है, परन्तु जब वह अपनी

विवेक-दृष्टि से देखता है, तो उसकी काम-वासना तत्क्षण नष्ट हो जाती है।

प्राचीन समय मे शुक्राचार्य नाम के एक ऋषि असुरों के गुरु थे। वह वीर्य-रक्षा के लिए अनेक उपाय बताते थे। एक बार उनको शिक्षाओं को ग्रहण कर दानव लोग बड़े बलिष्ठ हो गये थे। अब तो उनसे देव लोग भी भय-भीत होने लगे। कहा जाता है कि इन आचार्य के पास 'सञ्जीवनी' नाम की एक विद्या थी, जिससे ये मृतक को भी जीवित कर सकते थे। इसीलिए देवों ने अपने 'कच' नामक एक साथी को उनके पास यह अमोघ ज्ञान प्राप्त करने के लिए भेजा। शुक्राचार्य के प्रताप से इनको भी वह विद्या आगई। वह सञ्जीवनी विद्या क्या थी, जिसे कच ने बड़े परिश्रम द्वारा प्राप्त किया? वीर्य-रक्षा की प्रकाण्ड प्रणाली, जिसपर चलने से लोग मृत्यु से बच जाते थे। शुक्राचार्य ने एक बार कच को मरने से बचा लिया था। वह आख्यान आगे दिया जायगा।

अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य-सूक्त

'सर्वं वेदात्प्रसिध्यति।' 'प्रमाणं परमं श्रुतिः।'

(मनु)

सब कुछ वेद से सिद्ध होता है। कारण यह है कि वेद में सभी प्रकार के विषयों का संग्रह है।

आजकल वेदों का विज्ञान-युक्त अर्थ करने वाले बहुत ही कम

लोग हैं। इसीलिए अनर्गल अर्थों से लोगों में केवल भ्रम फैल जाता है, और लाभ कुछ नहीं होता। वेदों की भाषा अपौरुषेय है, इसलिए देश, काल और पात्र के अनुकूल एक ही ऋचा के कई अर्थ हो जाते हैं।

हम इस ब्रह्मचर्य-सूक्त का वास्तविक अर्थ काशी के एक विद्वान वेदज्ञ-ब्राह्मण से समझना चाहते थे, पर खेद है, वह इस कार्य में असमर्थ ज्ञात हुए और उन्होंने यह भी कहा कि यहाँ की पण्डित-मण्डली तो वही पुराना अर्थ करेगी। अतः हमने स्वयं परिश्रम कर, सुसङ्गत भावों के निकलने की चेष्टा की। और उसी पर संतोष किया—सूक्त इस प्रकार है:—

(१)

ब्रह्मचारी ष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन्देवाः सम्मनसो भवन्ति। स दाधार पृथिवीं दिवञ्च स आचार्यं तपसा पिपर्ति॥

(१) ब्रह्मचारी पृथिवी और आकाश को वश में करता हुआ चलता है। (२) उसमें देव लोग मन के साथ रहते है। (३) वह पृथिवी और आकाश को धारण करता है। और (४) वह आचार्य को तप से पूर्ण करता है।

(१) ब्रह्मचारी ऐहिक और पारलौकिक उन्नतियों को अपने अधिकार मे करने के लिए, सदैव उद्योग करता है।

(२) इस उद्योग-साधन से उसके हृदय मे सद्गुणों का आविर्भाव होता है।

(३) प्राप्त दिव्य गुणों के प्रभाव से, वह ऊपर के दोनों उच्च उद्देश्यों को प्राप्त करने में दक्ष हो जाता है।

(४) और इस प्रकार वह योग्य बनकर अच्छी योग्यता से अपने आचार्य का पूर्ण काम करता है।

ब्रह्मचारी ऐहिक और पारलौकिक सुखों को साधने वाली विद्या का भलीभाति अध्यन करता है। ज्यों-ज्यों अध्यन करता है, त्यों-त्यों उसके हृदय में उत्तम ज्ञान प्राप्त होता है। कुछ समय के अनन्तर, वह विद्वान् बन जाता है, और वह अपने आचार्य के निरन्तर के परिश्रम को भी इस प्रकार सफल करता है।

(२)

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः
पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे।
गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः।
षट्सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति॥

(१) ब्रह्मचारी को पितर, देवजन, अन्य देव और गन्धर्व सभी लोग अनुसरते है। (२) वह अपने तप से ३०, ३०० और ६००० देवों को परिपूर्ण करता है।

(१) ब्रह्मचारी के पिता-पितामहादि, शुभैषी पुरवासी तथा गुणग्राही लोग, सभी उसका कल्याण चाहते है।

(२) और वह अपने अनुष्ठान से सर्वाङ्ग की दिव्य शक्तियों को विकसित करता है।

ब्रह्मचारी के सभी हितैषी उससे आशा लगाये रहते है कि वह अपने व्रत से विचलित न होने पावे। जब उसका ब्रह्मचर्य पूर्ण हो जाता है, और वह विद्या पढ़ लेता है, तब उसका मानसिक और शरीरिक विकास होता है।

इस मन्त्र में जो देवों की संख्या गिनाई गई है, उसका अभिप्राय यह है कि इस शरीर में भी सब देवों के अंश है। एक भी अंग ऐसा नहीं, जिसमें कि एक न एक प्रकार की दैवी (प्राकृतिक) शक्ति न हो। उन्हींके आधार पर मनुष्य जीवित रहता है। उन्हीं तीन, तीस तीन सौ और छः सहस्र—गुण, धर्म योग्यता और विषय के मूल को देव नाम से अभिहित किया।

(३)

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरेबिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥

(१) ब्रह्मचारी को प्राप्त करने वाला आचार्य, उसे अन्तर्गत करता है (२) उसे तीन रात तक अपने उदर में रखता है और (३) उसके उत्पन्न होने पर देव-गण उसे देखने आते है।

(१) आचार्य अपने यहाँ आये हुए ब्रह्मचारी को अपने अधिकार में कर लेता है। वह बिना आचार्य की आज्ञा, कुछ भी नहीं कर सकता। अर्थात् ब्रह्मचारी से आज्ञा-पालन करवाता है।

(२) जबतक उस ब्रह्मचारी के त्रिविध अज्ञान दूर नही हो जाते, तबतक वह उसे अपने संरक्षण में रखता है।

(३) जब वह सुबोध हो जाता है—उसकी बुद्धि परिपक्व हो जाती है, तब आचार्य उसे अपने बन्धन से मुक्त कर देता है। फिर विद्वान् लोग उसका आदर-सत्कार करते हैं।

उपनयन-संस्कार के होजाने पर, ब्रह्मचारी अपने आचार्य के सन्निकट जा कर उससे विद्या पढ़ने की प्रार्थना करता है। वह

आचाय उस ब्रह्मचारी को अपने आश्रम में रहने तथा निरन्तर अध्ययन करने की आज्ञा देता है। वह उसे क्रमशः आधिभौतिक, आधिदैविक और अध्यात्मिक—इन तीन दुःखों से बचने के लिए ज्ञानोपदेश करता है। जब वह समझ लेता है कि अब यह ब्रह्मचारी सुयोग्य और परिपक्व-बुद्धि हो गया, तब वह उसे स्वतंत्र कर देता है। अर्थात् घर जाने की आज्ञा देता है,

(४)

इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयो तान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकास्तपसापिपर्ति॥

(१) यह पृथिवी पहली समिधा है। (२) दूसरी समिधा आकाश है, जिससे वह अन्तरिक्ष को प्रसन्न करता है। और (३) ब्रह्मचारी समिधा, मेखला, श्रम और तप से लोक को पूर्ण करता है।

(१) पहली 'परा विद्या' है, जिससे भौतिक वस्तुओं का बोध होता है।

दूसरी 'अपरा विद्या' है, जिससे अध्यात्मिक अनुभव किया जाता है और जिसके प्राप्त होने पर आत्मानन्द प्राप्त होता है।

और ब्रह्मचारी अपनी विद्या, तत्परता, परिश्रम तथा अनुष्ठान से लोगों को तृप्त करता है।

ब्रह्मचारी अपने आचार्य से भौतिक और अध्यात्मिक विद्यायें सीखता है। आध्यात्मिक ज्ञान हो जाने से उसकी आत्मा सन्तुष्ट हो जाती है। तत्पश्चात् वह अपने आचार्य से विलग हो कर अपनी विद्या, तत्परता, परिश्रम और अध्यवसाय से समाज-सेवा में

लग जाता है । यहीं से उसका सामाजिक जीवन प्रारम्भ होता है।

(५)

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी, घर्मं वसांस्तपसो दतिष्ठत् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्मज्येष्ठं । देवाश्च सर्वे अमतेन साकम् ॥

(१) ब्रह्म के पहिले ब्रह्मचारी होता है। (२) उष्णता के साथ तप से ऊपर उठता है । (३) उससे ज्येष्ठ ब्रह्म उत्पन्न होता है। और (४) सब देव अमृत के साथ रहते है।

(१) ब्रह्मचारी ज्ञान-प्राप्ति के पहले से ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

(२) वह अपने ब्रह्मतेज के प्रताप से उन्नति करता है।

(३) ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन से ही उसे श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त होता है।

(४) और परमोत्तम ज्ञान के होने पर उसके सभी दिव्य गुण सुख के साधन वन जाते है।

ब्रह्मचारी जबतक विद्याध्यन न करले, तबतक ब्रह्मचर्य (वीर्य-रक्षण) का यथावत् पालन करे। विद्या से ब्रह्मतेज और उस तेज के कारण ही उसे आत्म-विकास प्राप्त हो सकता है । क्योंकि जिसकी आत्मा विकासित होती है, वही पुरुष धार्मिक दृष्टि से श्रेष्ट ज्ञान का अधिकारी है। जो ज्ञानी होता है, उसके सद्गुण उसे निश्चय ही मोक्ष प्राप्त करा देते है।

(६)

ब्रह्मचार्येतिसमिधा समिद्धः कार्ष्णंवसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः ।
ससद्यएति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं, लोकान्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥

(१) ब्रह्मचारी समिधा से विभूषित, कृष्ण हरिण-चर्म पहनता हुआ और दीर्घ श्मश्रु को धारण करता हुआ आगे बढ़ता है। (२) वह पूर्व से उत्तर समुद्र तक शीघ्र पहुचता है—और (३) लोक-संग्रह करके बार-बार उत्तेजित करता है।

(१) ब्रह्मचारी अपने को विद्या से उन्नत करता है । वह काले हरिण का चर्म पहनता है, और मूछ-दाढ़ी को बढने देता है । वह प्रगति करने के लिए चेष्टा करता रहता है ।

(२) इस प्रकार वह विद्या का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन कर ज्ञानरूपी समुद्र के आदि से अन्त तक पहुँचता है ।

(३) और संसार के साथ सद्व्यवहार कर उसे सत्कर्म के लिए उत्साहित करता है ।

ब्रह्मचारी पहले विद्याध्ययन से अपनी उन्नति करता है। काले रंग के मृगचर्म और बड़े-बड़े केश आदि के धारण करने से उसकी पवित्रता, सरलता और निरभिमानता सूचित होती है। अर्थात् वह शुद्ध और साधु-वेष में रहता है। वह अपनी प्रगति पर विशेष ध्यान देता है। इसीसे वह थोड़े ही समय मे वेद-वेदाङ्गों के ज्ञान में पारङ्गत हो जाता है। इसके अनन्तर वह कार्यक्षेत्र में पदार्पण करता है। यहाँ वह अपने अनुपम उपदेशों से लोगों में एकता उत्पन्न करता है, और उन्हे सत्कर्म करने के लिए बार-बार उत्साहित करता रहता है।

(७)

ब्रह्मचारी जनयन्ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् ।
गर्भोभूत्वाऽमृतस्य योनाविन्द्रोह भूत्वाऽसुरां स्ततर्ह ॥

ब्रह्मचारी लोक, प्रजापति और तेजस्वी परमेश्वर को उत्पन्न करता हुआ, अमृत के गर्भ में रह कर, इन्द्र होकर, निश्चयपूर्वक असुरों का नाश करता है,

जो ब्रह्मचारी प्रजा, राजा और परमात्मा को तुष्ट करने के लिए, सत्कर्म कर रहा था, वही अब ज्ञान के गूढ़ विषयों से परिपूर्ण होकर—विद्वानों मे श्रेष्ठ बन कर—दुर्गुणों का नाश करता है। अर्थात् संसार को उपदेश देता है।

ब्रह्मचारी प्रजा, राजा और ईश्वर को प्रसन्न रखने के लिए ब्रह्मचर्य-पूर्वक विद्या का अध्ययन करता है। इस कारण सत्कर्म का जन्म-दाता है क्योंकि इस ससार में राजा, प्रजा और ईश्वर—इन्हीं तीनों के प्रति ही सभी कर्तव्य होते है। जब वह विद्या से पूर्ण हो जाता है, तब सुखमय-गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर देश, जाति और समाज की योग्य सेवा करता है। वह अपने उत्तम विचारों का प्रचार कर, लोगों के कुसंस्कारों और दुर्गुणों का नाश करता है।

(८)

आचार्यस्ततक्षनभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवञ्च ।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी, तस्मिन्देवाः सम्मनसो भवन्ति ॥

(१) अचार्य बड़े गम्भीर दोनों लोकों—पृथ्वी और आकाश को

बनाता है। (२) ब्रह्मचारी अपने तप से उनकी रक्षा करता है। और (३) देव लोग उसके मन के साथ रहते है।

(१) आचार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण 'भौतिक और आध्यात्मिक' ज्ञान का उपदेश करता है।

(२) ब्रह्मचारी उनको अपने अनुष्ठित व्रत के साथ हृदयङ्गम करता जाता है।

(३) और इस प्रकार उसके (ब्रह्मचारी) सभी दिव्य गुण विकसित होते है

आचार्य ही भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान का कर्त्ता है। जब वह अपने शिष्य को पण्डित बना देता है, तब वह भी उसीकी भाँति अपनी प्राप्त विद्या की रक्षा करता है। आचार्य जो कुछ उस (ब्रह्मचारी) को सिखाता है, वह उसे भूलने नहीं देता। ब्रह्मचर्य के प्रताप से उसकी विद्या रक्षित रहती है, समयानुकूल बढ़ती भी जाती है। इसलिए उसके दिव्य गुण सारे संसार में विख्यात होते है।

(६)

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामाजभार प्रथमो दिवञ्च।
ते कृत्वा समिधा वुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा॥

(१) पहले ब्रह्मचारी ने इस विस्तृत भूमि और आकाश की भिक्षा ग्रहण की। (२) अब उनकी दो समिधायें बनाकर उपासना करता है। और (३) इन्ही के वीच में सब भुवनों की स्थिति है।

(१) ब्रह्मचारी पहले भौतिक और आध्यात्मिक विषयों की शिक्षा प्राप्त करता है।

(२) फिर उन परा और अपरा विद्याओं का मनन करता है, जिन्हे आचार्य उसे देता है।

(३) और इन्हीं दोनों के बीच में सब कुछ भरा पड़ा है।

ब्रह्मचारी अपने आचार्य से भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान की भिक्षा लेता है। 'ऐहिक और पारलौकिक' विद्या की प्राप्ति से उसका उद्देश्य सिद्ध हो जाता है। इस यज्ञ के पूर्ण हो जाने पर फिर उसके सारे मनोरथ स्वयं सधते है। यही उसकी भिक्षा का आदर्श है।

(१०)

अर्वागन्यः परोअन्यो दिवस्पृष्ठाद्गुहानिधी निहितौ ब्राह्मणस्य।
तौरक्षति तपसा ब्रह्मचारी, तत्केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान्॥

(१) एक पास है और दूसरा आकाश से भी दूर है। वे दोनों कोश ब्राह्मण की गुहा में धरे हुए हैं। (२) ब्रह्मचारी अपने तप से उनकी रक्षा करता है। वह रहस्य ब्रह्म-विद्वान ही जान सकता है।

(२) भौतिक ज्ञान पास और आध्यात्मिक ज्ञान बहुत दूर है। वे दोनों वेद मे छिपे हुए हैं।

(२) ब्रह्मचारी अपने तप और अनुष्ठान से उन दोनों को अपने अधिकार में कर लेता है।

(३) इन दोनों के रहस्य को ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही समुचित जानता है।

'भौतिक ज्ञान' से भी कठिन ब्रह्म-ज्ञान' है। आचार्य उन दोनों को अपने शिष्य को वेदाध्ययन से सिखला देता है। वह भी उसको

फिर किसी प्रकार नष्ट नहीं होने देता। जो पुरुष वेद का ज्ञाता नहीं, उसे यह रहस्य नहीं विदित होता।

(११)

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे।
तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि दृढा स्तानातिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी॥

(१) यहाँ एक है, और दूसरी इस लोक से बहुत दूर है। ये दोनों अग्नि, पृथ्वी और आकाश के बीच में मिल जाती है। (२) उनकी तीव्र किरणें फैलती हे और ब्रह्मचारी उनको तप से अपने अधीन करता है।

(१) कर्म ऐहिक और ज्ञान पारलौकिक—ये दो अग्नि हैं। इन दोनों का मिलाप भौतिक और आध्यात्मिक साधनों से होता है।

(२) इन दोनों की गति बड़ी तीव्र है, जो सर्वत्र प्रस्फुटित होती है। ब्रह्मचारी उन दोनों को अपनी तपस्या से साध लेता है।

ब्रह्मचारी आचार्य के यहां रहकर 'वैदिक कर्म' और 'आत्म-ज्ञान' दोनों की साधना करता है। 'कर्म और ज्ञान'—दोनों में ही गूढ़ तत्त्व भरा हुआ है। जहाँ ये दोनों मिलते हैं—जहां इनका समान रूप से आदर किया जाता है, वहीं अच्छी प्रगति और सफलता मिलती है। इसीसे ब्रह्मचर्य की अवस्था में दोनों का बराबर अनुष्ठान करना पड़ता है।

(१२)

अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिंगो बृहच्छेपोऽनुभूमौ जभार।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः॥

(१) घोर गर्जना करता हुआ, भूरा और साँवला तथा बड़े आकार वाला मेघ भूमि का पोषण करता है। (२) अपने रेतस् से पृथिवी और पर्वत को सींचता है। और (३) उससे चारों दिशायें जीवित होती है।

(१) उच्च स्वर से संसार को सचेत करता हुआ, जाज्वल्य स्वरूप वाला तथा हृष्ट-पुष्ट अंगोपांगो वाला ब्रह्मचारी संसार का पालन करता है।

(२) वह बड़े से लेकर छोटे तक, सबके हित का उपदेश देता है। अर्थात् वह समदृष्टि होता है।

(३) और उसके उपदेश से चारों ओर लोगों में जीवन पड़ जाता है। सर्वत्र जागृति उत्पन्न होती है।

इस मन्त्र में ब्रह्मचारी को मेघ बनाकर उसके कार्यों की तुलना की गई है।

जैसे मेघ भीमनाद करता है, वैसे वेद-घोष करने वाला ब्रह्मचारी भी ओजस्वी व्याख्यान देता है। मेघ के स्वरूप में जो सुन्दरता है, वह उसमें भी है। मेघ जैसे बृहत्कार्य है वैसे यह भी हृष्ट-पुष्ट शरीर वाला होता है। वह पृथिवी का पोषण करता है, यह भी जनता का सुधार करता है। वह अपना जल पर्वत से पृथिवी-पर्यन्त बरसाता है, यह भी अपना ज्ञानोपदेश बड़े-छोटे का भेद-भाव छोड़कर सब लोगों को समान रूप से देता है। उसकी वर्षा से चारों दिशाओं में आनन्द होता है, इसकी भी शिक्षा से सर्वत्र सुख

ही सुख उत्पन्न हो जाता है। अतः गुण, धर्म तथा स्वभाव के मिल जाने से ब्रह्मचारी भी मेघ और मेघ भी ब्रह्मचारी ठहरा।

(१३)

अग्नौसूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् ब्रह्मचार्यप्सु समिधमादधाति।
तासामर्चींषि पृथगभ्रे चरन्ति तासामाज्यं पुरुषो वर्षमापः॥

(१) ब्रह्मचारी अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वायु और जल में समिधा डालता है। (२) उनकी किरणे अन्य मेघों में पहुँचती हैं। और (३) उनसे घृत, पुरुष, वर्ष और जल की उत्पत्ति होती है।

(१) ब्रह्मचारी वाणी, नेत्र, मन, प्राण और वीर्य की शक्तियों को बढ़ाता है।

(२) इन शक्तियों के प्रभाव से वह दूसरे उपकारी लोगों को भी प्रभावित करता है।

(३) और उन शक्तियों के कारण बुद्धि, बल, ज्ञान सुख और शान्ति की उत्पत्ति होती है।

ब्रह्मचारी अपने ब्रह्मचर्य और विद्याभ्यास से अपनी आत्मिक और शरीरीरिक शक्तियों को बढ़ाता है। फिर वह अन्य सुपात्र लोगों को इन शक्तियों के वढ़ाने का उपदेश करता है। इस प्रकार उसके कारण उनमे बुद्धि, बल, ज्ञान, सुख और शान्ति की वृद्धि होती है।

(१४)

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम औषधयः पयः।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम्॥

आचार्य मृत्यु, वरुण, सोम, औषध और पय है। उसके सद्भाव मेघ हैं, उनसे यह तेज रक्षित होता है।

आचार्य अज्ञान-नाशक, सदाचार-शिक्षक, शान्ति-दायक, शुद्धिकारक और उत्साह-वर्द्धक होता है। उसके सात्विक गुणों से यह अधिकार प्राप्त होता है।

आचार्य अपने ब्रह्मचारी शिष्य के अज्ञान-रूपी शरीर का नाश कर उसको सदाचार की शिक्षा देता है। उसकी शान्ति और पवित्रता के लिए यत्न करता है, और सत्कर्म करने के लिए सदा उत्साहित करता रहता है। उसके सात्विक गुणों से ही विद्यार्थी पर उत्तम प्रभाव पड़ता है। इसीलिए उसका इतना महत्व है। वास्तव मे ब्रह्मचारी के लिए वह सब कुछ है।

(१५)

अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ।
तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत् स्वान् मित्रा अध्यात्मनः॥

(१) आचार्य शिष्य के सम्मेलन से केवल घृत निकालता है। और (२) वरुण बनकर जो-जो प्रजापति के लिए चाहता है सो-सो सूर्य ब्रह्मचारी अपनी आत्मिकता से प्रदान करता है।

(१) आचार्य अपने यहाँ रहने वाले ब्रह्मचारी के सहवास से परमोत्तम ज्ञान को उत्पन्न करता है।

(२) और मार्ग-दर्शक बन कर प्रजा के पालन के लिए, जो विचार करता है, उसे वह सूर्य-सा प्रतिभावान् ब्रह्मचारी अपनी योग्यता से पूर्ण करता है।

आचार्य अपने शिष्य ब्रह्मचारी को पास रख कर गूढ़ तत्त्वों का उपदेश करता है। उसकी शंकाओं का समाधन करता है। आचार्य जिन श्रेष्ठ विचारों को जनता के हित को जानता है उन्हे उस पर प्रकट करता है, वह भी योग्य हो कर अपने आचार्य की आज्ञा का पालन करता है।

(१६)

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रो भवद्वशी॥

(१) आचार्य ब्रह्मचारी है। (२) प्रजापति ब्रह्मचारी है। प्रजापति विराजित होता है, और (६) संयमी विराट् इन्द्र है।

(१) आचार्य ब्रह्मचारी रह कर ज्ञानोपदेश करता है।

(२) राज्याधीश भी ब्रह्मचर्य का पालन शासन करता है।

(३) और संयमी राजा भी नृपेन्द्र कहलाता है।

आचार्य शिष्य पर और राजा प्रजा पर शासन करता है। इसलिए इन दोनों को ब्रह्मचारी होना योग्य है। अर्थात् इन्हे ज्ञानी और बली होना चाहिए। क्योंकि आचार्य का अनुकरण उसके शिष्य तथा राजा के आचरण का अनुकरण उसकी प्रजा करती है। यदि ये ब्रह्मचारी न हों, कुमार्गगामी हों, तो इन दोनों से शिष्य और प्रजा के ब्रह्मचर्य मे बाधा पहुँचाती है। ठीक है:—

"यथा गुरु स्तथा शिष्यो, यथा राजा तथा प्रजा।"

(१७)

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
आचर्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिण मिच्छते॥

(१) ब्रह्मचर्य के तप से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है। और (२) आचार्य ब्रह्मचर्य से ब्रह्मचारी को चाहता है।

(१) ब्रह्मचर्य के प्रभाव से राजा अपनी प्रजा को अधिकार में रखता है।

(२) और आचार्य ब्रह्मचर्य के ही कारण अपने विद्यार्थी को प्यार करता है।

देश की सुख-शान्ति के दो ही स्तम्भ है। एक राजा और दूसरा आचार्य। इन दोनों को ब्रह्मचारी होना चाहिए। एक 'बल' से और दूसरा 'ज्ञान' से लोक-सेवा करता है। इस दृष्टि से यहाँ दोनों में समानता है, जिस राजा में विक्रम नहीं, उसकी प्रजा उच्छृङ्खल हो जाती है और जिस आचार्य में बोध नहीं, उसका शिष्य भी अपढ़ अयोग्य तथा मूर्ख हो जाता है। विक्रम और बोध दोनों का मूल 'ब्रह्मचर्य' ही है।

(१८)

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति॥

(१) ब्रह्मचर्य से कन्या युवक पति वरती है और (२) वृषभ तथा अश्व भी ब्रह्मचर्य-पालन से घास खाते है।

(१) कन्या ब्रह्मचर्य का पालन कर लेने पर, योग्य और युवा पति को प्राप्त करती है।

(२) और वीर्यवान इन्द्रिय-समूह भी ब्रह्मचर्यबल से ही अपने विषयों का उपभोग कर सकता है।

जैसे बालक ब्रह्मचर्य का पाल करते है, वैसे ही कन्यायें भी ब्रह्मचर्य का पालन करती है। तत्पश्चात् वे अपने सदृश वर से परिणय करने योग्य होती है। अनड्वान का अभिप्राय 'वीर्यवान्' और अश्व का 'इन्द्रिय-समूह' और घास का उसके विषय से है। ब्रह्मचर्य के पालन से इन्द्रिय-समूह वीर्यवान् (परिपुष्ट) हो जाता है। परिपुष्ट होने पर, ही वह अपने व्यापार को समुचित रूप में कर सकता है।

अनड्वान्, अश्व और घास का प्रचलित अर्थ नहीं। यदि ऐसा होता, तो वेद की इस कन्या के ब्रह्मचर्य वाली ऋचा के साथ यह असंगत बात न कही जाती।

ऊपर के मन्त्र में अलंकर-रूप से यही बात समझाई गई है। इससे पुरुष-स्त्री सबके लिए ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक प्रतीत होता है।

(१६)

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥

(१) ब्रह्मचर्य के तप से देवों ने मृत्यु को जीता। और (२) इन्द्र ब्रह्मचय से ही देवों मे तेज भरता है।

(१) अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालन से ही विद्वानों ने अकाल मृत्यु को वश में किया।

(२) और ब्रह्मचर्य के प्रताप से ही सर्व-श्रेष्ठ विद्वान् योग्य पुरुषों को ज्ञानोपदेश करता है।

प्राचीन समय में कई अखण्ड ब्रह्मचारी हो गये हैं, जो मृत्यु को भी कुछ नहीं समझते थे। जब उनकी इच्छा होती थी, तभी शरीर छोड़ते थे। यही मृत्यु पर विजय प्राप्त करना कहलाता है।

(२०)

ओषधयो भूतभव्य महोरात्रे वनस्पतिः।
सम्वत्सरः सहतुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः॥

औषध, वनस्पति, भूत-भव्य, दिन-रात और ऋतुओं के साथ सम्वत्सर सभी ब्रह्मचारी हैं।

औषधियों, वनस्पतियों, भूत-भविष्य, दिन-रात और ऋतुओं के साथ रमने वाला सवत्, सभीमे ब्रह्मचर्य है।

यदि ये सब नियमों के अनुकूल न चलें, तो इनमें शक्ति नहीं रह जाती। संयम से ही सबकी स्थिति है। जड जंगममय संसार भर मे ब्रह्मचर्य का महत्त्व है।

(२१)

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्चये।
अपक्षा पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः॥

पृथिवी पर चलने वाले, आकाश मे उड़ने वाले तथा वन और ग्राम के पशु-पक्षी, सब ब्रह्मचारी है।

थलचर, नभचर, वन और ग्राम में रहने वाले जितने पशु-पक्षी है, सभी अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा करते है। इनमे परमेश्वर ने एक शक्ति ऐसी दी है, जिससे कि ये ब्रह्मचर्य के महत्व को अपने

हृदय में अनुभव करते है। इनमें ब्रह्मचर्य-रक्षा की स्वाभाविक परिपाटी होती है।

(२२)

पृथक् सर्वे प्रजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति।
तान्त्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम्॥

(१) प्रजापति से सब उत्पन्न हुए हैं। सब पृथक्-पृथक् अपने में प्राण रखते हैं। और (२) ब्रह्मचारी में धारण किया हुआ ब्रह्म उन सबकी रक्षा करता है।

(१) उस पूज्य परम पिता परमात्मा से भी जीवों तथा पदार्थों की उत्पत्ति हुई है। उन सबमें अलग-अलग जीवन-शक्ति विद्यमान है।

(२) और ब्रह्मचारी जिस ब्रह्म को अपनी आत्मा में अधिष्ठित करता है, वह उन सबको सुरक्षित रखता है।

यह सारी सृष्टि परमेश्वर की ही बनाई हुई है। नाम और रूप के भेद से सब वस्तुयें पृथक्-पृथक् सत्ता में जान पड़ती है। ब्रह्मचारी इसीलिए अपने व्रत का पालन करता है कि वह श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त कर विश्व भर का कल्याण करने में समर्थ हो। ब्रह्मचर्य के पालन से ही संसार की रक्षा होती है।

(२३)

देवानामेतत् परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥

(१) देवों का यह अत्यन्त गौरवान्वित तथा उत्साह-वर्द्धक

तेज। (२) उससे सर्व-श्रेष्ठ ब्राह्मण की उत्पत्ति होती है। और (३) देव लोग अमृत के साथ निवास करते है।

(१) यह विद्वानों का गूढ़ तथा साहस बढ़ाने वाला तेज उन्नति करता है।

(२) उस तेजोबल से उनमें परमोत्तम ब्रह्मज्ञान की वृद्धि होती है।

(३) और सब सद्गुण इस अमृत (न मरने वाला पदार्थ) के संग मे रहते है।

ब्रह्मचर्य ही विद्वान् लोगों का उच्च तथा उत्साह-दायक ध्येय है। वे इसका पूर्ण रूप से पालन करते है। इसका सद्भाव उनको उन्नत बनाता है। इससे उनके हृदय में सब उत्तम ब्रह्मज्ञान का उदय होता है, और ब्रह्मज्ञान के प्राप्त होने से उनके अन्तर्गत सभी अच्छे गुण अपने आप स्थायी रूप से रहने लगते है।

(२४)

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः।
प्राणापानौ जनयन्नाद्व्यानंवाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम्॥

(१) ब्रह्मचारी ज्योतिमान् ब्रह्म को भरता है। (२) उसमें सब देवलोग रहते हैं। और (३) प्राण, अपान, व्यान, वाचा, मन, ज्ञान और मेघ उत्पन्न करता है।

(१) ब्रह्मचारी उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

(२) इससे सभी संसार के सद्गुण उसमें एकत्र हो जाते हैं।

(३) और यह अपने अनुष्ठान से प्राण, वाचा-शक्ति, मन, हृदय, ज्ञान और बुद्धि को पुष्ट करता है।

वीर्य ही परमेश्वर का तात्विक रूप है। ब्रह्मचारी उसे अपने शरीर में धारण करता है। इस चर्या से उसके सभी दिव्य गुणों की उन्नति होती है। इस प्रकार वह अपने तप के प्रभाव से समस्त शरीरिक और मानसिक शक्तियों को प्रबल और संयमित बनाता है।

(२५)

चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहित मुदरम् ॥

हमलोगों को चक्षु, श्रोत्र, यश, अन्न, रेतस लोहित और उदर दो।

हे ब्रह्मचारी। हमको सुदृष्टि, सुश्रवण, कीर्ति, प्राण, वीर्य, रक्त और पालन-पोषण करने की शक्ति दो। ब्रह्मचर्य के अधीन विश्व की वाह्य तथा अभ्यन्तर सभी शक्तियाँ होती हैं। परमात्मा भी ब्रह्मचारी है और ब्रह्मचारी भी परमात्म-रूप है। इसीलिए उससे इन सब दिव्य शक्तियों की याचना की गई है। हे परमात्मा के अंशभूत ब्रह्मचारी! तुम जनता में सुख और शान्ति बढ़ाने के लिए नाना प्रकार के सदाचार-सम्बन्धी उपदेश करो, तथा ऐसे उपाया बताओ जिनसे संसार के अमङ्गल-कारी अवगुणों का नाश हो।

(२६)

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत्तप्यमानः।
समुद्रे। स स्नातो बभ्रुः पिंगलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥

(१) ब्रह्मचारी उन सब का उपक्रम करता है। (२) वह समुद्र मे तप्त होनेवाले जल की पीठ पर तप करता है ! और (३) वह स्नान करके अत्यन्त तेज वाला होकर पृथिवी में अच्छा माना जाता है।

(१) ब्रह्मचारी ऊपर कहे गये उन सब सद्गुणों और विश्वसुधार के उपदेशों की योजना करता है।

(२) वह ज्ञान-रूपी सागर मे अपने को तपा कर, सुख-रूपी जल के तीर पर अपने व्रत का अनुष्ठान करने लगता है।

(३) और वह तेजस्वी स्नातक बनकर संसार में अपने सदुपदेशों से सम्मानित होता है।

ब्रह्मचारी आचार्य के समीप रहकर, विद्याध्यान से नाना प्रकार की शारीरिक और मानसिक शिक्षाये प्राप्त करता है। वह अत्यन्त परिश्रम से मानार्जन करके सुख के समीप पहुँचता है, वह अपने को योग्य बना कर अपरी परम श्रेष्ठता, योग्यता और गौरव गरिमा से संसार मे शोभित होता है। वह जनता का हित करता है, और जनता उसकी उचित पूजा करती है।

(अथर्ववेद ११, ५, १०-२६)

ब्रह्म-वन्दना

ॐ नमः शम्भवाय च मयोभवाय च।
नमः शङ्कराय च मयस्कराय च।
नमः शिवाय च शिवतराय च॥

(यजुर्वेद अ० १६, म० ४१)

सुख-स्वरूप और आनन्दमय परमात्मा को नमस्कार है; कल्याणकारी और मोक्षदाता प्रभु को नमस्कार है; और मङ्गलकारी तथा अत्यन्त सुख देने वाले को नमस्कार है।

हे प्रभो। तुमने अपने योगबल से कामदेव को दग्ध कर दिया था। तुम्हारे योगयुक्त चित्त में विकार स्थान न पा सका। हम लोग

तुम्हारी इसलिए उपासना करते हैं कि हमारे हृदय में काम-विकार उत्पन्न न हो। तुम हमें ऐसा बल दो कि हम ब्रह्मचर्य का पालन करें, जिससे कि तुम्हारे स्नेह-भाजन बने।

अशिव विचारों से ही ब्रह्मचर्य का नाश होता है। जब हम अपने को शिव-स्वरूप समझेंगे, तो फिर हमारे ऊपर कामदेव अपना बाण न चला सकेगा। यदि ऐसा करेगा, तो उसका निश्चय ही पराजय होगा। हम सुख और शान्तिदायक विविध नामों से तुम्हारी उपासना इसलिए करते है कि हमारा मङ्गल हो। बिना तुम्हारी अनुकम्पा के हमारा तप सिद्ध नहीं हो सकता।

त्रिविध ब्रह्मचर्य

कायेन मनसा वाचा, सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुन-त्यागो, ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते॥

(याज्ञवल्क्य)

शरीर, मन और वचन से सब अवस्थाओं में, सर्वदा और सर्वत्र मैथुन (सम्भोग) त्याग के नाम को ब्रह्मचर्य कहा जाता है।

महामुनि याज्ञवल्क्य के मत से कायिक, मानसिक और वाचिक ये तीन प्रकार के ब्रह्मचर्य होते है। इन तीनों के समूह का नाम 'सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य' है। अतएव इन तीनों का पालन करने वाला पुरुष ही सम्पूर्ण ब्रह्मचारी होने के योग्य है।

१—कायिक ब्रह्मचर्य—हाव, भाव, कटाक्ष, चुम्बन, आलिङ्गन

अङ्गमर्दन, तथा उपस्थेन्द्रिय के सञ्चालन से सब प्रकार पृथक् रहने को कहते हैं।

२—मानसिक ब्रह्मचर्य—विषय-चिन्तन, सम्भोग के मनोरथ, कामोद्दीपक साधनों की भावना, एवं विकारों के संग्रह को भलीभांति त्याग देना ही माना गया है। और

३—वाचिक ब्रह्मचर्य—प्रेमालाप, विषय सम्बन्धी चर्चा गुह्य सम्भाषण एवं हृदय मे काम-विकार उत्पन्न करने वाली चातुर्य-पूर्ण कथा से विरक्त रहने का नाम है।

बहुत से लोग ऐसे हैं, जो कायिक ब्रह्मचर्य का पालन करने पर भी मानसिक और वाचिक का पालन नहीं कर सकते। वे समझते है कि कायिक पाप ही पाप है, मानसिक और वाचिक पाप पाप नहीं। यही कारण है कि वे कुछ ही दिनों में कायिक ब्रह्मचर्य को भी छोड़ बैठते है। परन्तु कायिक ब्रह्मचर्य का रूप बहुत स्थूल है इसके पालन मे इतनी कठिनता नहीं, जितनी कि मानसिक और वाचिक के पालन में है।

'मानसिक' ब्रह्मचर्य उत्तम, 'वाचिक' मध्यम और 'शारीरिक' अधम है। मन, वचन तथा कर्म का आपस में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है।

कुछ लोग ऐसे है, जो विचारते है कि वाचिक ब्रह्मचर्य में क्या धरा है। उसके छोड़ने से कुछ हानि नहीं हो सकती। ऐसी धारणा कर वे वास्तव में मूर्खता करते हैं। वाचिक ब्रह्मचर्य के बिगड़ने से कायिक ब्रह्मचर्य भी निस्सन्देह नष्ट हो जाता है। जो वाचिक ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता है, भला वह कायिक का पालन कैसे कर सकेगा?

बहुत से लोग मनोविज्ञान का महत्व न जानकर मानसिक ब्रह्मचर्य की अवहेलना करते हैं। वे यह नहीं जानते कि मन की ही प्रेरणा से पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ काम करती हैं। वह इस शरीर का राजा है। वह जिस अवयव को चाहता है, उसके विषय में तत्काल लगा देता है।

मानसिक ब्रह्मचर्य की प्रधानता

यन्मनसा मनुते तद्वाचावदति,
यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति,
यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते।

(यजुर्वेद ब्राह्मण)

जिसका मन मे चिन्तन किया जाता है, वही वाणी से निकलता है; जो कुछ वाणी से निकलता है, वही कर्म किया जाता है; और जैसा कुछ कर्म किया जाता हैं, वैसा उसका फल भी मिलता है।

ऊपर के मन्त्र से मन की स्पष्ट रूप से प्रधानता दिखलाई गई है। मन का ही अधिकार वचन और कर्म पर है। मानसिक विकार ही वाचिक और कायिक विकारों का मूल है। अतएव मानसिक ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाला पुरुष ही वाचिक और कायिक ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। बहुत उचित कहा गया है—

'मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्ध मोक्षयोः।"

मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण उसका मन ही है। सब से पहले मन की ही साधना की जाती है। जिसका मन सध गया

है, उसका वचन और शरीर पर भी अधिकार हो जाता है। जिसका मानसिक ब्रह्मचर्य छूट जाता है, उसका वाचिक और कायिक भी स्वयं छूट जाता है। इसीलिए मानसिक ब्रह्मचर्य ही का पालन करना प्रधान है। इसीके द्वारा कुछ दिनों मे वाचिक और कायिक ब्रह्मचर्य भी स्वयं सध जाता है।

मानसिक ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में एक बहुत ही शिक्षाप्रद पौराणिक आख्यायिक है। वह नीचे दी जाती है:—

एक समय पितामह ब्रह्मा तपोवन मे जाकर तपस्या करने लगे। इस अनुष्ठान मे उन्हे लगभग ३००० वर्ष बीत गये। यह दशा देख कर देवों के राजा इन्द्र को अत्यन्त द्वेष और भय हुआ। उन्होंने समझा कि कहीं ऐसा न हो कि तप सिद्ध होने पर हमारे इन्द्रासन की मर्यादा हीन हो जाय। अतः उन्होंने तिलोत्तमा नाम की एक अप्सरा को तपोभंग करने को भेजा। वह अप्सरा तपोवन में आकर अपना हाव, भाव और कटाक्ष करने लगी। यह दृश्य देख कर ब्रह्माजी के मन में विकार उत्पन्न हो गया। वह जिधर-जिधर जाती थी, वह भी उधर-उधर काम-दृष्टि से उसे देखते थे। इसके अनन्तर वह इन्द्र के पास लौट आई। पर ब्रह्मा अपने मानसिक ब्रह्मचर्य से पतित होने के कारण अपने तीन सहस्र वर्ष की तपस्या के फल से हाथ धो बैठे।

कथा-पुराण, वेद-उपनिषद कहीं भी देखिए सर्वत्र ही इस मानसिक ब्रह्मचर्य को कायिक और वाचिक का मूल माना है।

ब्रह्मचर्य से विद्याध्ययन

"विद्यया विन्दतेऽमृतम्।

(मुण्डकोपनिषत्)

विद्या के प्रभाव से परमानंद मिलता है।

ब्रह्मचर्येण विद्या, विद्यया ब्रह्मलोकम्।

(अथर्व-संहिता)

वीर्य-रक्षा के द्वारा ही विद्या प्राप्त होती है और विद्या के मिलने से ही मनुष्य ब्रह्मलोक का सुख पाता है।

ऊपर के मन्त्र मे यह बात कही गई है कि ब्रह्मचर्य ही विद्या का मूल है। बिना ब्रह्मचर्य के विद्या की उपलब्धि नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्य और विद्या में वृक्ष और शाखा के समान सम्बन्ध है। यही कारण है कि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही विद्याध्ययन करने का नियम प्रचलित किया गया था। ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्य की अवस्था मे ह. वेद-वेदाङ्गों का अभ्यास कर लेते थे। और जबतक विद्या प्राप्त नहीं हो जाती थी, गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं करते थे।

जो विद्या ब्रह्मचर्य के द्वारा गृहीत होती है, वह कभी स्खलित नही होती। वीर्य के प्रभाव से ज्ञान के गूढ़ तत्त्व शीघ्र ही हृदयङ्गम हो जाते हैं। विद्यार्थी की धारणा-शक्ति सदा जागृत और तीव्र रहती है, जिससे कि वह थोड़े ही अभ्यास से विशेष लाभान्वित होता है। जो लोग ब्रह्मचर्य-युक्त विद्याध्ययन करते है, वे ही उच्च तथा यशस्वी विद्वान् बन सकते हैं और उन्हींकी विद्या में वैज्ञानिक,

आध्यात्मिक, तथा गणित सम्बन्धी नवीन-नवीन आविष्कार करने की शक्ति उत्पन्न होती है।

"विद्यार्थं ब्रह्मचारी स्यात्"

(विदुर)

विद्याध्यान करने के लिए ब्रह्मचारी बनना चाहिए।

इसी सिद्धान्त को लेकर बहुत से विद्यार्थी आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन करते है।

इस सम्बन्ध में एक रोचक आख्यायिका, है:—

एक दिन देवर्षि नारद अमरावती मे इन्द्र के पास उनसे मिलने गये। वहाँ वह उनसे मिलकर बड़े प्रसन्न हुए। इन्द्र को किसी स्थान की वेद की कई ऋचायें भूल गई थीं। अतः उन्होंने चतुरता से पूछा कि अमुक स्थान की ऋचा कैसे है? इसपर नारदजी ने सस्वर उन मन्त्रों का पाठ कर सुनाया। तब इन्द्र को आश्चर्य हुआ और उन्होंने कहा कि अब रहने दीजिए, काम हो गया। मैं तो आपकी परक्षा ले रहा था। यह बात सुनकर नारदजी जरा रुष्ट हुए और उन्होंने कहा कि तुम्हे एक ब्रह्मचारी की परीक्षा करने में लज्जा नहीं आई। भला ब्रह्मचारी की विद्या कभी तुम्हारी तरह नष्ट हो सकती है। मुझसे कहीं की भी ऋचा पूछ सकते हो। यदि फिर कभी ऐसा दुस्साहस कर किसी ब्रह्मचारी की परीक्षा करोगे, तो अवश्य ही इन्द्रासन से पतित हो जाओगे। इस बात से इन्द्र भय के मारे काँपने लगे और बड़ी प्रार्थना कर क्षमा माँगी और नारदजी वहाँ से चले गये।

ब्रह्मचर्य से शक्ति-साधन

"बलेन वै पृथिवी तिष्ठति, बलेनान्तरिक्षम्।"
"वीर्यमेव बलम्"—"बलमेव वीर्यम्।"
(उपनिषत्)

बल से ही पृथिवी ठहरती है और बल से ही अन्तरिक्ष भी ठहरा हुआ है। वीर्य ही बल है और बल ही वीर्य है।

उपनिषदों में बल और वीर्य का एक साथ वर्णन कर दोनों में कैसी अच्छी समता दरसाई गई !

आजतक संसार में जितने बड़े-बड़े योद्धा और बलवान् हो गये हैं—जितने शूर-वीर पराक्रमी हो गये है और जितने विजेता और रणकौशल जानने वाले हुए हैं, सबको ब्रह्मचर्य का आश्रय लेना पड़ा है। बिना वीर्य-रक्षा के शरीरिक तथा मानसिक बल किसी को नहीं प्राप्त हो सकता। जो योद्धा ब्रह्मचर्य का नाश कर देता है, वह युद्ध-क्षेत्र में जाकर कभी जय नहीं पा सकता।

प्राचीन समय में क्षत्रिय-कुमारों को भी ब्रह्मचर्य का पालन करना पडता था : जबतक वे युद्ध-विद्या में निपुण और शारीरिक बल में पराक्रमी नहीं हो जाते थे, उन्हे वीर्य-रक्षा करनी पड़ती थी। युद्ध मे अनेक योद्धाओं और वीरों को नीचा दिखलाने पर ही उनका स्वयंवर-विवाह होता था।

जो पुरुप बल का अर्जन करना चाहे, उसके लिए ब्रह्मचर्य ही एक मात्र सञ्जीवनी-वटी है। बिना वीर्य के शक्ति स्थिर नहीं हो सकती।

महाभरत के भीष्म पितामह को आज भी हिन्दू जाति नहीं भूली है। उनसे बढ़कर वीर-पराक्रमी कदाचित ही कोई रहा हो। उन्होंने अपने पिता के लिए ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा की थी। इस व्रत के पालन से उनका शरीर वज्र के समान हो गया था। वीर्य-रक्षा के कारण ही वह युद्ध में कभी पराजित नहीं हुए। उनका सारा जीवन बल की ही उपासना में व्यतीत हुआ। वृद्ध होने पर भी महाभारत के महायुद्ध मे ६ दिन तक पाण्डव-सेना के बड़े-बड़े महारथी, शूर-वीर तथा नाना शस्त्र चलाने वाले निपुण लोगों के दाँत खट्टे करते रहे। विपक्षियों के दल में त्राहि-त्राहि का शब्द होने लगा। वीरवर अर्जुन और नीतिज्ञ श्रीकृष्ण की भी बुद्धि चक्कर खाने लगी। पितामह को वह शक्ति कहाँ से प्राप्त हुई थी? इसका एकमात्र उत्तर यह है कि उनके अखण्ड ब्रह्मचर्य द्वारा, जो कि उन्हे अत्यन्त प्रिय था, और जिसके लिए उन्होंने सांसारिक समस्त सुखों को तिलांजलि दे दी थी।

ब्रह्मचर्य से सम्पत्ति-सेवा

"नाऽनाश्रान्ताय श्रीरस्ति।"

(ऐतरेय-ब्राह्मण)

बिना पुरुषार्थ के धन नहीं मिलता।

"धर्मार्थ काम मोक्षाणामारोग्य मूल मुत्तमम्।"

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उत्तम साधन आरोग्य ही है। एक आरोग्य के अधीन सब कुछ है।

ब्रह्मचर्य से प्रचुर धन प्राप्त किया जा सकता है। व्यभिचारी पुरुष का धन नष्ट हो जाता है। ब्रह्मचारी अपने नियम का बड़ा दृढ़ होता है। वह अपने संयम-बल से सम्पत्ति एकत्र करता है। उसमें सतत परिश्रम का अभ्यास होता है। जो लोग ब्रह्मचर्य का नाश कर देते हैं, वे सम्पत्ति की रक्षा नहीं कर सकते। बड़े-बड़े धनी जबतक ब्रह्मचर्य-रत रहे हैं, तबतक उनकी उन्नति होती है। लक्ष्मी सदा ब्रह्मचारी तथा उद्योगी की ओर रहती है।

ब्रह्मचर्य अनेक प्रकार की सेवाओं का भी मूल कारण है। देश, जाति और समाज की सेवा बिना ब्रह्मचर्य के निभ नहीं सकती। सेवा का आधार आरोग्य है। शरीर के स्वस्थ रहने पर ही मनुष्य सेवा में सब प्रकार से लग सकता है। वह स्वास्थ्य वीर्य-संरक्षण के अधिकार मे है। ब्रह्मचारी पुरुप औरों की अपेक्षा बहुत कार्य कर सकता है। आजतक जितने प्रकार के सेवक हुए हैं, सबको इस अमूल्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करनी पडी है। धर्म-सेवक, जाति-सेवक तथा समाज-सेवक—सब ब्रह्मचर्य की शरण में रह कर ही अपने मनोरथ सफलीभूत कर सके है।

ब्रह्मचर्य से अपूर्व मेधा

"मेधा देवैस्सर्वै रुपास्या ।"

(श्रुति)

मेधा वह शक्ति है, जिसकी सभी विद्वान् लोग उपासना करते हैं।

"मेधा दिव्या वरा शक्ति, ब्रह्मचर्येण गृह्यते ।"

मेधा वह पवित्र और श्रेष्ठ शक्ति है, जो वीर्य-रक्षण के द्वारा ग्रहण की जाती है।

मेधा वास्तव में ईश्वरीय शक्ति है। इसके विना सब व्यर्थ है। प्राचीन समय मे हमारे पूर्वज आर्य लोग इसकी बड़े परिश्रम से उपासना करते थे। इसके लिए अपना सार्वस्व अर्पण कर देते थे।

इस मनुष्य-शरीर में मस्तिष्क सबसे श्रेष्ठ स्थान माना गया है। वह मेधा-शक्ति इसी मे विचरण करती है। ब्रह्मचारी पुरुषों की मेधा अत्यन्त तीव्र होती है। उनके मस्तिष्क मे सदैव उन्नत विचार-प्रवाह प्रवाहित होता रहता है। वीर्य-रक्षा से मस्तिष्क बहुत प्रवल हो जाता है। निर्वल मस्तिष्क की अपेक्षा वलवान् मस्तिष्क अधिक कार्य कर सकता है। यह बात बहुत ही सत्य है कि उत्तम मस्तिष्क मे उत्तम मेधा रह सकती है। जो पुरुष अपने वीर्य को सुरक्षित रखता है, उसीका मस्तिष्क वलिष्ट और मेधा तीव्र हो सकती है।

यह बात हम बहुत से ग्रन्थों मे देखते हैं कि हमारे ऋषि-मुनि बड़े मेधावी और विद्वान् होते थे। बड़े से बड़े ग्रन्थ को एक वार सुन कर ही स्मरण रखते थे। उनके पास नाना विद्यायें और कलाय

'राक्षस' नाम है पापी का और 'पिशाच' दुष्ट को कहते हैं। एक ब्रह्मचारी पुरुप को पापी और दुष्ट का कुछ भी भय नहीं रहता। वे इसके प्रभाव से स्वयं भयभीत रहते हैं और किसी प्रकार का कष्ट नहीं दे सकते। वीर्य की रक्षा करने वाले से, पापी और दुष्ट का, उसे नष्ट करने में, कुछ भी वश नहीं चलता।

व्यभिचार से मनुष्य का आयु-बल क्षीण हो जाता ह। प्राचीन अथवा अर्वाचीन समय में एक भी व्यभिचारी पुरुष दीर्घजीवी होता नहीं देखा गया। इतिहास में दीर्घजीवी पुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़ने से यह बात पूर्ण रूप से सिद्ध हो चुकी है कि ब्रह्मचर्य के पालन से ही उनको दीर्घजीवन प्राप्त हुआ था।-दीर्घजीवन का मूल कारण वीर्य-रक्षण है। जिसका जितना ही पुष्ट वीर्य है, वह उतने ही अधिक दिनों तक जीवित रह सकता है।

ब्रह्मचर्य में वीर्य-रक्षा प्रधान है। वीर्य के रक्षित होने पर ओज की वृद्धि होती है। ओज की बढ़ती के ही भीतर जीवनी-शक्ति है। इसी अद्भुत शक्ति से मनुष्य का शरीर सुदृढ़ और स्वस्थ रहता है। शरीर को सुदृढ़ता और स्वस्थता के ही ऊपर दीर्घायु अवलम्बित है।

कहने का अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचर्य के पालन से ही दीर्घ-जीवन प्राप्त हो सकता है। जो जितना दीर्घजीवी होना चाहता है, वह उतनी ही वीर्य रक्षा करे। वीर्य का व्यय ही जीवनी-शक्ति का प्रधान नाशक है।

कुछ लोगों का कहना है कि सतयुग, त्रेता और द्वापर में मनुष्य का आयु-बल विशेप होता था, सो अब कलियुग के कारण कम हो

गया है। इस बात को हम मानते हैं, पर इसके साथ यह भी था कि अन्य युगों में ब्रह्मचर्य का पालन भी विशेष रूप से किया जाता था, जो दिन पर दिन घटता ही गया और कलियुग में नाम ही नाम रह गया। यदि इस समय भी ब्रह्मचर्य का विधिवत् पालन हो, तो अब भी दीर्घजीवी पुरुष हो सकते हैं। यह कोई अनहोनी बात नहीं है।

नीचे कुछ दीर्घजीवी पुरुषों के नाम और उनकी अवस्था की तालिका देते हैं। उनकी आयु के देखने से मालूम होगा कि ये पुरुष किस प्रकार के सत्पुरुष, धर्मनिष्ठ और सदाचारी थे:—

भीष्म पितामह १७०, महर्षिव्यास १५७, वसुदेव १५५, भगवान बुद्ध १४०, धृतराष्ट्र १३५, श्रीकृष्ण १२६, रामानन्द गिरि १२५, महात्मा कबीर १२०, युगराज लोहकार ११५, महाकवि भूषण १०२, स्वामी सच्चिदानन्द १००, महाकवि मतिराम ९९, गोस्वामी तुलसीदास ९१, यतीन्द्रनाथ ठाकुर ८५ और भक्तवर सूरदास ८० वर्षों तक जीवित रहे।

८० से लेकर १०० वर्ष तक की अवस्था के इस समय भी कई पुण्यात्मा विद्यमान हैं। लेखक ने स्वयं कई ऐसे सौ वर्षों के पुरुषों को देखा है, जिनकी नेत्र-ज्योति, शारीरिक स्थिति और स्मरण-शक्ति उत्तम, दृढ़ तथा तीव्र थी। उनसे तथा उनके जाननेवालों से पूछने पर यह बात जानी गई कि वे बाल-ब्रह्मचारी या नियमपूर्वक वीर्य-रक्षक थे।

श्रीमद्भागवत के अनुसार कलि-काल में भी मनुष्य के आयु-बल का परिमाण १२० वर्षों का है। इससे पूर्व मरने वाले अकाल मृत्यु

से मरते है। ब्रह्मचर्य-व्रत से हीन लोग ही इस अकाल मृत्यु के ग्रास होते है। वीर्य की विधिवत् रक्षा करनेवाला पुरुष ही अपने आयु-बल का पूर्ण उपयोग कर सकता है।

अथर्ववेद मे १०१ प्रकार की मृत्युएं मानी गई हैं। उनमें से १०० तो अकाल मृत्यु है; पूर्ण मृत्यु उनमे से एक ही है। इस अन्तिम मृत्यु से मरने वाला पुरुष ही भाग्यवान् है और उसीकी सद्‌गति होती है। जो लोग अकाल मृत्यु से मरते है, वे मोक्ष के अधिकारी नहीं होते।

ब्रह्मचर्य से उत्साह-साहस

उत्साह और साहस के बिना संसार का एक काम भी सुचारु-रूप से सम्पादित नहीं हो सकता। इन दोनों का निवास-स्थान हृदय है। जिसका हृदय जितना ही बलिष्ट है, वह पुरुष उतना ही उत्साही और साहसी हो सकता है। हृदय का बलवान् होना ब्रह्मचर्य के अधीन है। जिसने वीर्य की रक्षा की है, उसमें उत्साह और साहस की छाया दिखाई देती है। वीर्य के बिना हृदय कभी पुष्ट नहीं हो सकता। यह बात प्रायः देखने में आती है कि व्यभिचारी पुरुप अनुत्साही और असाहसी होते है।

पवन-पुत्र हनूमान जानकी को खोजने के लिए समुद्र पार कर लङ्का में पहुंचे। वहाँ उन्होंने बहुत ढूंढ़ा, पर जानकीजी का कुछ भी पता न चला। तब वह चिंतित हुए और बैठ कर विचारने लगे कि यदि जानकी नहीं मिली तो क्या करेंगे? पर उन्होंने विचारा कि केवल विचार करने से भी तो काम नहीं चलता। कठिन से कठिन कार्य

उत्साह से सम्पादित होता है। अन्त में इसी उत्साह के कारण उन्हें जानकी मिली।

× × × ×

भीष्म पितामह काशिराज की अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका नाम की तीन कन्यायें जीत कर ले गये। अम्बिका और अम्बालिका का विवाह तो अपने दोनों छोटे भाई चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य के साथ कर दिया, पर ब्रह्मचारी रहने के कारण अम्बा को लौटने की आज्ञा दी। इसपर अम्बा को दुःख हुआ। उसने महायोद्धा परशुराम के पास जाकर अपना कष्ट निवेदन किया। उन्होंने कहा कि हम तुम्हारे लिए भीष्म से युद्ध करेंगे। यदि वह हमसे परास्त हो गये, तो तुम्हारा विवाह उनसे करा दिया जायगा। वह अम्बा को लेकर भीष्म के यहाँ आये और समझाया कि तुम इसके साथ विवाह करलो। पर उन्होंने अस्वीकार कर दिया। भीष्म ने यह बात कही कि यदि आपसे युद्ध में हार गया तो विवाह कर लूँगा। दोनों में घोर युद्ध ठन गया। भीष्म के हृदय में ब्रह्मचर्य के कारण अटूट साहस था। वह अपने निश्चय पर अटल रहे। अन्त में परशुरामजी हार कर चले गये।

———

ब्रह्मचर्य से स्वास्थ्य रक्षा

"शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्"

(वैद्यक)

शरीर ही सब धर्मों का प्रधान साधन है।

"धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्"

(सूक्ति)

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल कारण आरोग्य (स्वास्थ्य) ही है।

वैद्यक के मतानुसार स्वास्थ्य के लक्षण ये हैं :—

समदोषः समाग्निश्च, समधातु मलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः, स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

(महर्षि शुश्रुत)

जिस मनुष्य के तीनों दोष (वात, कफ और पित्त), अग्नि (अन्न पचाने और भूख लगाने वाली शक्ति,), धातु (रस, रक्त, मास, मेदा, अस्थि, मज्जा और वीर्य), मल और मूत्र आदि उचित अवस्था में हों—जिसके आत्मा, इन्द्रिय और मन प्रसन्न तथा अपने-अपने कार्यों में लगे हों, वह पुरुष स्वस्थ कहलाता है।

लेकिन ऊपर लिखे अनुसार हमारे यहाँ स्वस्थ लोग कितने होंगे ? थोड़ा सा विचार करके देखें तो पता चलेगा कि बहुत थोड़े—नहीं के बराबर। किसी को वात-विकार, किसी में कफ़ का कोप, किसी में पित्त की विकृति, किसीकी अग्नि बिगड़ी हुई, किसीके

रसादि धातुओं में क्षीणता, किसीका मल दूषित और किसीके मूत्र अनियमित हो गया है। इन सब बुरे लक्षणों का एकमात्र प्रधान कारण ब्रह्मचर्य का अभाव है। एक वीर्यक्षय से अनेक दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं। स्वास्थ्य का सर्वोत्तम साधन ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचारी पुरुष ही उत्तम स्वास्थ्य का लाभ कर सकता है। जो व्यभिचारी पुरुष हैं, उन्हे भान भी नहीं होता और उनके शरीर में धीरे-धीरे अस्वास्थ्य-कर लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, और फिर वे ही बढ़ते-बढ़ते नाश का कारण बनते है।

दिनचर्यां निशाचर्यां ऋतुचर्यां यथोदिताम्।
आचरन् पुरुषः स्वस्थः, सदा तिष्ठति नान्यथा॥

दिनचर्या (प्रातःकाल से सायंकाल तक के नियमित कर्म), रात्रिचर्या (सायंकाल से लेकर प्रभात तक के कृत्य) और ऋृतुचर्या (छः ऋृतुओं में आहार-विहार के नियम) का उचित रीति से पालन करने से ही मनुष्य सदा स्वस्थ रह सकता है।

इन चर्याओं का यथाविधि पालन करना भी ब्रह्मचर्य है। जो ऊपर की तीनों चर्याओं का पालन कर अपने स्वास्थ्य को बिगड़ने नहीं देता, वह पुरुप वास्तव मे ब्रह्मचारी है। इन चर्याओं को नियमित रूप से करने के लिए ब्रह्मचर्य की आवश्यकता होती है। हमारे प्राचीन ब्रह्म-चर्याश्रम में इन्हींको संयमित और निष्ठित करने के लिए ब्रह्मचारियों को बहुत समय तक वहीं रहना पड़ता था। फिर वहाँ सेगृहस्था श्रम में प्रविष्ट होकर इन्हीं चर्याओं का पूर्ण अभ्यास किया जाता था।

ब्रह्मचर्य से सुसन्तान

कोऽर्थः पुत्रेण जातेन, यो न विद्वान्न धार्मिकः।

(नीति)

उस पुत्र के उत्पन्न होने से क्या लाभ, जो कि न तो विद्वान है और न धार्मिक ही ?

सबके मन में यही अभिलाषा रहती है कि सन्तान हो, जिससे कि हमारी वंश-वृद्धि हो। वह अच्छी भी हो, जिससे कि हमारा संसार में यश फैले। यह बात बुरी नहीं है। पर बहुत थोड़े लोग हैं, जो नियम-पूर्वक सन्तान उत्पन्न कर सकते हों। कितने लोग ऐसे हैं जो मर जाते हैं, पर उन्हें पुत्र के मुख-दर्शन का सौभाग्य नहीं प्राप्त होता। कुछ के बच्चे ही बच्चे होते रहते हैं, पर वे जीते नहीं। कुछ के कुछ दिन और वर्ष के लिए होते हैं। कुछ के कुछ दिन जीते भी हैं, तो महामूर्ख और अनेक दोषों से पूरित। यह सब क्यों होता है ? सोचने से यही उत्तर मिलता है कि ब्रह्मचर्य का पालन ठीक तरह से नहीं होता है। आज लोगों में ब्रह्मचर्य पालन की प्रवृत्ति नहीं है। पहले हमारे ऋषि-मुनि मनोवाञ्छित सन्तान उत्पन्न करते थे। वे सन्तान की इच्छा से ही मैथुन में प्रवृत्त होते थे। उनकी सन्तान भी उत्तम आचार-विचारवाली स्वस्थ और दीर्घायु होती थी। पिता-माता के ही संयोग से सन्तान की उत्पत्ति होती है। इसलिए उनके गुणावगुणों का उसपर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है।

इस सम्बन्ध मे एक आख्यायिका है :—

पितामह ब्रह्मा ने चार पुत्र उत्पन्न किये। उनसे उन्होंने प्रजा की सृष्टि करने को कहा। पर वे अस्वीकार कर गये। इसका कारण यह था कि ब्रह्मा ने सात्विक वृत्ति से उनको उत्पन्न किया था। इसलिए वे ब्रह्मचारी और सतोगुणी हो गये। फिर ब्रह्मा ने और सात पुत्र उत्पन्न किये। वे राजस वृत्ति से उत्पन्न किये जाने के कारण, रजोगुणी और प्रवृत्ति-परायण हुए। उन्होंने प्रजा की सृष्टि की।

यदि मनोऽनुकूल बालक उत्पन्न करना है—यदि सन्तान को उत्तम और सद्गुणी बनाना है—यदि उन्हे दीर्घजीवन प्रदान करना हो, तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि ब्रह्मचर्य का समुचित पालन किया जाय।

ब्रह्मचर्य से रोग-शान्ति

जात मात्रं नयः शत्रुं, व्यधिञ्च प्रशमन्नयेत्।
अति पुष्टाङ्गयुक्तोऽपि, सपश्चात्तेन हत्यते॥

(सूक्ति)

शत्रु और व्याधि को उत्पन्न होते ही नष्ट कर देना योग्य है। क्योंकि इनके बढ़ जाने पर, अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट पुरुष भी इनके द्वारा मारा जाता है।

हमारे देश में स्वस्थ पुरुषों और स्त्रियों की संख्या अंगुलिय

पर गिनने योग्य हो गई है ! अनेक लोग अपने आरोग्य के लिए विविध यत्न करते रहते है, फिर भी वे अस्वस्थ ही रहा करते है। जनता मे निस्तेज और निर्बल शरीर वाले मनुष्यों को देख कर एक वार हृदय थाम कर रह जाना पड़ता है। इस रोग-ग्रस्तता का कारण यही है कि लोग ब्रह्मचर्य-भ्रष्ट होकर अपना जीवन बिता रहे है, इसीसे वे प्रायः रोगी देखे जाते है। व्यभिचार और इन्द्रिय-लोलुपता बहुत बढ़ रही है। ब्रह्मचर्य पालन की ओर किसी का ध्यान ही नहीं है। जो ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला है, उसे रोग नहीं उत्पन्न हो सकता। जिसने, अपने वीर्य का महत्व न समझ कर उसको अनियमित प्रकार से अपने शरीर से अलग किया है. वह रोग से बच भी नही सकता। प्रायः दुराचारी पुरुषों को ही भयङ्कर रोगों का आखेट होना पड़ता है।

प्राचीन समय में लोगों को प्रायः रोग होते ही नहीं थे। जिसे रोग होता था, वह पापी और नीच समझा जाता था। वह अपने को धर्माचरण और सदाचार से युक्त करता था।

आजकल लोग वैद्यक-शास्त्र के हितोपदेशों की अवहेलना करने लग गये हैं। ब्रह्मचर्य-युक्त आहार-विहार को छोड़ कर प्रकृति के विरुद्ध चलते है। इसका परिणाम यह होता है कि वे कभी सुखी नहीं रहते। उनके साथ-साथ एक न एक रोग बराबर चलता रहता है। नाना प्रकार की औषधियां खाते रहते हैं, पर अपने दुष्कर्म को छोड़ने मे असमर्थ रहते हैं। ऐसे लोग कभी आरोग्य-लाभ नहीं कर सकते। ब्रह्मचर्य सब औषधियों का पिता है। जो

पुरुष इसका विधिवत् सेवन करता है, वह कभी रोगी नहीं रह सकता। अमृत-तुल्य औषधोपचार करते रहने पर भी, ब्रह्मचर्य का पालन न करनेवाला पुरुष रोग-रहित नहीं हो सकता। किसी रोग को मूल से नाश करना हो, तो उससे छुटकारा पाने तक, अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

एक बड़े अनुभवी वैद्य थे। उनका कहना था कि १ वर्ष नियमत ब्रह्मचर्य के पालन से भयङ्कर रोग नष्ट हो सकते हैं। इस चिकित्सा का उन्होंने कई रोगियों पर प्रयोग किया और वह सफल निकले। तबसे वे उसीकी चिकित्सा करते थे, जो उनके आज्ञानुसार वीर्य-रक्षा कर सकता था। वह नाड़ी से वीर्य-नाशक पुरुष को जान लेते थे और फिर उसको औषधि नहीं देते थे।

ब्रह्मचर्य से ब्रह्मज्ञान

"ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति मचिरेणाधि गच्छति।"

(भगवान् कृष्ण)

ब्रह्मज्ञान के प्राप्त हो जाने पर मनुष्य बहुत शीघ्र ही परमानन्द का अधिकारी हो जाता है।

"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।"

(शकराचार्य)

ब्रह्मज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती।

हमारे ऋषियों ने ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए अनेक मार्ग

बताये हैं। उनपर चल कर शीघ्र ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ब्रह्मज्ञान के प्राप्त हो जाने पर सब कुछ सुलभ हो जाता है। इस ज्ञान के लिए चार आश्रमों का विधान किया गया है।

छान्दोग्योपनिषद् में इन्द्र-विरोचन-संवाद है। उसमें ब्रह्मचर्य से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का समर्थन किया गया है। पितामह ब्रह्मा ने उन दोनों को ३२ वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन करने की शिक्षा दी है।

"ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्टात्मान मनुविन्दते।"

ब्रह्मचर्य का पालन करने से निश्चयपूर्वक यह इच्छित आत्मज्ञान प्राप्त होता है।

प्रश्नोपनिषद् में ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में एक बड़ा ही रोचक तथा सार गर्भित कथानक आया है। हम उसे यहाँ उद्धृत करते हैं:—

कबन्धी और कात्यायन नाम के दो ऋषिकुमार थे। वे दोनों ब्रह्मचारी थे। एक दिन वे दोनों ही ऋषिवर पिप्पलाद के आश्रम में गये और उनसे ब्रह्मज्ञान की शिक्षा देने के लिये निवेदन किया।

तान् ह स ऋषिरुवाच—भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्वत्सरे संवत्स्यथ, यथाकामान् प्रश्नान् पृच्छथ, यदि विज्ञानास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्यामः।

पिप्पलाद ने उन दोनों से कहा कि तुम दोनों एक वर्ष तक हमारे पास रह कर नियमानुसार श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करो। तत्पश्चात् जो प्रश्न चाहोगे, पूछ लेना। हम भी जो कुछ ज्ञान होगा, तुम लोगों को यथाशक्ति समझादेंगे।

इस उदाहरण से यह बात जानी जाती है कि ब्रह्मज्ञान का अधिकारी ब्रह्मचारी पुरुष ही हो सकता है। पिप्पलाद जानते थे कि ये ऋषिकुमार ब्रह्मचारी हैं, पर ब्रह्मज्ञान के लिये उन्होंने उन दोनों से एक वर्ष तक विशेष रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करवाया। उन्होंने समझा कि ब्रह्मचर्य के बिना ब्रह्मज्ञान का अनुभव नहीं किया जा सकता।

ब्रह्मचर्य से मुक्ति-ब्रह्मत्व

"अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च।"

(सूक्ति)

पुत्र-रहित पुरुष की मुक्ति नहीं होती। उसके लिए स्वर्ग का मिलना तो अत्यन्त असम्भव बात है।

"स्वर्गं गच्छन्ति ते सर्वे, ये केचिद् ब्रह्मचारिणः।"

(सूक्ति)

संसार में जितने ब्रह्मचारी पुरुष हैं, वे सब स्वर्ग में जाते हैं।

ऊपर के दोनों वचन शास्त्रीय हैं। पहले वचन का दूसरा अपवाद स्वरूप है। एक तो पुत्र के बिना मुक्ति ही नहीं बतलाता, पर दूसरा कहता है कि बिना पुत्र के स्वर्ग तक मिल सकता है। जो लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, निर्विघ्न स्वर्ग प्राप्त करते हैं।

यह बात है भी बहुत सत्य। प्राचीन समय में बालखिल्य, नचिकेता, हनूमान तथा भीष्म आदि अनेक ब्रह्मचारियों ने पुत्र उत्पन्न

नही किया, पर वे मुक्त हो गये। ऐसा क्यों ? क्योंकि उन्होंने अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया था।

केवल पुत्र उत्पन्न करने से ही कोई पुरुष मोक्ष या स्वर्ग का अधिकारी नहीं बन जाता। पुत्र के योग्य होने पर ही ऐसा हो सकता है। यदि पुत्र योग्य हुआ तो अपने पित्रों को नरक गामी बना कर ही छोड़ता है। सुयोग्य पुत्र के उत्पन्न होने से ही मनुष्य तीन ऋणों (ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण) से मुक्त होता है। यही उसकी सच्ची मुक्ति है। सुयोग्य पुत्र बिना ब्रह्मचर्यव्रत के पालन किये, किसीको किसी प्रकार, प्राप्त नहीं हो सकता। व्यभि-चारी का पुत्र सुयोग्य नहीं हो सकता।

अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले पुरुषों को पुत्र उत्पन्न करने की शास्त्रों में आज्ञा नही है। वे मनसा, वाचा तथा कर्मणा ससार की सेवा करते है। उनकी शिक्षाओं तथा उद्योग से अनेक बालक सज्जन और सदाचारी बनकर, अपने कुटुम्ब को यशस्वी बनाते है। उनके प्रताप से बहुत से विद्यार्थी अपना जीवन-सुधार कर पितरों को नरक में पड़ने से मुक्त करते हैं। फिर ऐसे पुरुष, जिनके कारण से अन्य लोग स्वर्ग के अधिकारी बन जाते है, क्यों न मुक्ति प्राप्त करें।

सुना जाता है कि पारस पत्थर के स्पर्श से लोहा भी सुवर्ण हो जाता है। अखण्ड ब्रह्मचारी भी उसी पारस के समान है; जिसके संसर्ग से अबोध बालक भी सुवर्ण के समान गुणवान् और मूल्यवान् बन जाता है। लोहे को सोना बनाने की आवश्यकता होती है, पारस

को नहीं ! जो मुक्त नहीं है, उसे ही मुक्ति की आवश्यकता होती है, ब्रह्मचारी को नहीं। वह तो स्वयं मुक्त है।

ब्रह्मचर्य मुक्ति और स्वर्ग प्राप्ति का भी एक साधन है। जबतक ब्रह्मचर्य सिद्ध नहीं होता तबतक मुक्ति भी नहीं प्राप्त हो सकती।

मुक्ति तो ब्रह्मचारी पुरुष की दासी बनी रहती है। वे इसकी चिन्ता ही नहीं करते। उनके लिए यह तुच्छ है !

मुक्ति से बढ़कर ईशत्व माना गया है। मुक्ति को भी ईशत्व की लालसा लगी रहती है। अनेक योगी-जन जिसके लिए आजीवन तपस्या करते है, यदि उनकी साधना पूरी हुई, तो इस पद के अधिकारी होते है। इस ब्रह्म-पद को प्राप्त करना परम कठिन है। केनोपनिषद् में लिखा है:—

न तत्र चक्षुर्गच्छति नवाग्गच्छति न मनो न विद्मः।

न तो वहाँ तक दृष्टि पहुँचती है, न वाणी जा सकती है, और न मन ही पहुँच सकता है। हम उसे जानते भी नहीं।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति॥
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।
तत्तेपदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

(कठोपनित्)

सब वेद जिस पद का चिन्तन करते हैं, सब तप भी जिसको बताते हैं और जिसके चाहने वाले ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हैं, उस पद को संक्षेप में कहते है।

ईश्वत्व-प्राप्ति के लिए, वेद, तप और ब्रह्मचर्य, ये तीन साधन हैं। वेद और तप दोनों ब्रह्मचर्य के विना सिद्ध नहीं हो सकते इसलिए ब्रह्मचर्य ही प्रधान है। एक ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत वेद और तप दोनों की साधनायें विद्यमान हैं। बड़े-बड़े वेदाध्यायी और भारी-भारी तपस्वी ब्रह्मचर्य से पतित होते ही अपने पद से च्युत हो जाते हैं। अतएव ईशत्व प्राप्त करने के लिए भी ब्रह्मचर्य सबसे बड़ा साधन है। विना ब्रह्मचर्य के ब्रह्मपद दुष्प्राप्य ही नहीं, अपितु नितान्त असम्भव है!

ब्रह्मचर्य पर प्राचीन मत

इस अध्याय में अबतक ब्रह्मचर्य पर प्राचीन ग्रंथों के तथा महा-पुरुषों के कथनों के वचन मिल सके हैं, वे दिये जाते हैं:—

"मनुष्य विना ब्रह्मचर्य धारण किये हुऐ कदापि पूर्ण आयु वाले नहीं हो सकते।"

(ऋग्वेद)

"चारों आश्रमों के यथावत् पूर्ण होने (पालन) के लिए, ब्रह्म-चर्याश्रम का पालन करना चाहिए।"

× × × ×

"विद्वान् मनुष्यों को उचित है कि संसार में दो कार्य निरन्तर करें—(१) ब्रह्मचर्य तथा जितेन्द्रियत्व की शीक्षा से शरीर को नीरोग, बलिष्ट और दीर्घजीवी बनावें और (२) सुविद्या और क्रियाकुशलता से आत्मा को तेजस्वी बनावें जिससे सर्वदा आनन्द प्राप्त हो!

"जैसे प्रसिद्ध अग्नि, विजली, जठराग्नि और वड़वाग्नि—ये चार और प्राण, इन्द्रिय तथा गो आदि पशु—सव जगत् की पुष्टि करते हैं, वैसे ही मनुष्यों को ब्रह्मचर्य आदि से अपना तथा दूसरों का बल बढ़ाना चाहिए । जो मनुष्य ब्रह्मचर्य, औषधि पथ्य तथा सुन्दर नियमों के सेवन से शरीर की रक्षा करे, तो उनके अंग दृढ़ होते हैं।"

(यजुर्वेद)

"सब पुराणों, प्राचीन संस्कृति और धर्म की रक्षा ब्रह्मचर्यव्रत से होती है।"

(अथर्ववेद)

"ब्रह्मचर्य सर्वोत्तम तप है। अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का व्रती पुरुष देवता है, उसे मनुष्य न समझना चाहिए।"

(शंकर)

"ऋषिवर! ब्रह्मचारी पुरुष मुझे परम प्रिय है। ब्रह्मचर्य से ही मेरा निर्भय पद प्राप्त हो सकता है।"

(विष्णु)

"देव, मनुष्य और असुर सबके लिए ब्रह्मचर्य अमृत-रूप है। जो वरदान चाहे, वह ब्रह्म-निष्ठा से प्राप्त हो सकता है।"

(ब्रह्मा)

"ब्रह्मचर्य से ब्रह्मतेज का सञ्चय होता है। पूर्ण तपस्वी अपने तप को इसीके बल पर साध सकता है।

(इन्द्र

"हे जीव ! ब्रह्मचर्य रूपी सुधानिधि तेरे पास है। उसकी प्रतिष्ठा से अमर बन। निराश मत हो। मनुष्यता को सार्थक बनाने का उद्योग कर !"

(श्रुति)

"ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए, वेदादि शास्त्रों का अध्ययन योग्य है। अधिकारी पुरुष ही अपनी सम्पत्ति की रक्षा कर सकता है।"

(अंगिरा)

"हे निष्पाप ! ब्रह्मचर्य से ही संसार की स्थिति है मूलाधार के नष्ट होने पर ही पदार्थ का नाश होता है। अन्यथा नहीं।"

(वशिष्ट)

"ब्रह्मचर्य का पालन ब्रह्मपद का मूल है। जो अक्षय-पुण्य को पाना चाहता है, वह निष्ठा से जीवन व्यतीत करे।"

(नारद)

"मुनिवर ! आपका शाप अंगीकार करता हूँ। विवाह करने से तुम्हारा ब्रह्मचर्य-व्रत खण्डित हो जाता और लोक-कल्याण में बाधा उपस्थित होती। इसलिए माया करनी पड़ी।"

(विष्णु)

"मोक्ष का दृढ़ सोपान ब्रह्मचर्य है ब्रह्मचर्याश्रम के सुधरने से सब क्रियाए सफल होती हैं।"

(दक्ष)

"ब्रह्मचर्य से ही ब्रह्मस्वरूप के दर्शन होते हैं। हे प्रभो! निष्कामता प्रदान करके दास को कृतार्थ करें।"

(भारद्वाज)

"ब्रह्मचर्य से मनुष्य दिव्यता को प्राप्त होता है। शरीर के त्यागने पर सद्गति मिलती है।"

(गर्ग)

ब्रह्मचर्य के संरक्षण से मनुष्य को सब लोकों में सुख देने वाली सिद्धियाँ प्राप्त होती है।"

(अत्रि)

"जीवात्मा ब्रह्मचर्य से ही परमात्मा में लीन होता है। आप्त धर्म ही चारों फल की प्राप्ति का साधन है।"

(व्यास)

"ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन से मनुष्य के अशुभ लक्षण भी नष्ट हो जाते हैं।"

"जो उत्तम धर्म का पालन करना चाहे, वह इस संसार में ब्रह्मचर्य का पालन करे।"

(धन्वन्तरि)

"हे राजन्! ब्रह्मचारी को कहीं भी दुःख नहीं होता। उसे सब कुछ प्राप्य है। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से अनेक ऋषि ब्रह्मलोक मे स्थित हैं।"

(भीष्म)

"ब्रह्मचारी को सब कुछ सम्भव है। उत्साह से ही सब कार्य

सिद्ध होते हैं। वे ही पुरुष-रत्न है, जो अपने व्रतोंका सदा पालन करते हैं।"

(हनूमान)

"ब्रह्मचर्य का पालन कर लेने पर मनुष्य किसी भी आश्रम (गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) में प्रविष्ट हो सकता है।"

(जाबालि)

"ब्रह्मचर्य से ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते की योग्यता प्राप्त होती है।"

(पिप्पलाद)

"ब्रह्मचारी रह कर नियमित रूप से अध्ययन करना चाहिए। विधि-रहित अध्ययन करने से स्वाध्याय का फल नहीं मिलता।"

(हारीत)

"हे जनकजी ! जिसने ब्रह्मचर्य में चित्त की शुद्धि की है, उसी को अन्य आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ और सन्यास) में आनन्द मिलता है।"

(शुकदेव)

"बिना ब्रह्मचर्य के (विषय-भोग से) आयुष्य, तेज, बल, वीर्य, बुद्धि, लक्ष्मी, महत्वाकांश, पुण्यतप और स्वाभिमान का नाश हो जाता है।"

(गौतम)

"इच्छा से वीर्य का नाश करने वाला ब्रह्मचारी निश्चय-पूर्वक अपने व्रत (ब्रह्मचर्य) का नाश कर देता है।"

(मनु)

"ब्रह्मचर्य और अहिंसा शारीरिक तप है।"

(श्रीकृष्ण)

"ब्रह्मचर्य के पालन से आत्मबल प्राप्त होता है।"

(पतंजलि)

"ब्रह्मचर्य के बल से ही मनुष्य ऋषि-लोक को जाता है।"

(कपिल)

"ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करनेवालों को मोक्ष (स्वर्गीय सुख) मिलता है।"

(सनत्सुजातमुनि)

"वीर्य ही सारे शरीर का सार है।"
"मनुष्य का बल वीर्य के आधीन है।"
"ओज ही शरीर की धातुओं का तेज है ।"

(वैद्यक)

"जो मनुष्य ब्रह्मचारी नहीं, उसको कभी सिद्धि नही होती। वह जन्म-मरणादि क्लेशों को बार-बार भोगता रहता है।"

(अमृतसिद्ध)

"ब्रह्मचर्य से पाप इस प्रकार कटता है, जिस प्रकार सूर्योदय से अन्धकार का नाश होता है।"

(धर्म-सग्रह)

ब्रह्म-वन्दना

ॐ त्वा हि मन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे महि नः श्रोष्यग्ने ।
इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसानृतमाः ॥

(ऋग्वेद ४।५।६।२)

हे प्रकाशमान् परमेश्वर ! तुम कोमल हृदय वाले हो। इसलिए ब्रह्मचर्य-पूर्वक अध्ययन किये हुए वीर्यशाली मन्त्रों से हम तुम्हारी आराधना करते है। तुम हमारी प्रार्थना को सुनो। इन्द्र और वायु के समान तुम्हारी पूजा भी संसार में होती है।

ब्रह्मचर्य युक्त अन्याश्रम

चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किंचित्परिहाणिश्चेति । आषोडशाद् वृद्धिः । आपञ्चविंशतेर्यौवनं । आचत्वारिंशतः सम्पूर्णता ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति ॥

(सुश्रुताचार्य)

इस शरीर की चार अवस्थायें होती हैं–वृद्धि, यौवन, सम्पूर्णता और परिहाणि । १६ वें वर्ष से २५ वर्ष तक सब धातुओं की वृद्धि होती है । २५ वें वर्ष के पश्चात् ४० वे वर्ष तक सब धातुओं के पुष्ट हो जाने से यौवन प्राप्त होता है । ४० वें वर्ष के उपरान्त (६० वर्ष तक) सम्पूर्णता रहती है । तत्पश्चात् ह्रास प्रारम्भ हो जाता है ।

यही कारण है कि कम से कम २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्याश्रम का पालन किया जाता था । बहुत से विद्यार्थी इस आश्रम का महत्व समझ लेने पर, इससे अधिक समय तक या जीवन-पर्यन्त इसी आश्रम में रहते थे ।

ब्रह्मचर्यं परि समाप्य गृही भवेत् ।
गृहीभूत्वा वनी भवेत् । वनीभूत्वा प्रव्रजेत् ॥

(ब्रह्म जाबालि)

ब्रह्मचर्याश्रम का पालन कर लेने पर गृहस्थ बने । गृहस्थाश्रम का निर्वाह करके वानप्रस्थी हो । और वानप्रस्थाश्रम को समाप्त कर लेने पर संन्यासी बने ।

"ब्रह्मचारी गृहीः वानप्रस्थी भिक्षुश्चतुष्टये ।"

(अमर)

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रमों के नाम हैं।

ब्रह चारी गृहस्थश्च, वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थ प्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—ये पृथक्-पृथक् चार आश्रम गृहस्थ से उत्पन्न हुए हैं।

मनुष्य की साधारण आयु १०० वर्षों की मानी गई है। इस प्रकार इसके चार बराबर-बराबर विभाग किये गये हैं। उन्हींके प्रत्येक भाग को धर्म शास्त्र के मत से आश्रम कहा जाता है।

ब्रह्मचर्याश्रम

उपनीतो माणवको, वसेद् गुरुकुलेषु च।
गुरोः कुले प्रियं कुर्यात्कर्मणा मनसा गिरा ॥

(हारीत)

उपनयन के हो जाने पर बालक को गुरुकुल में जाकर रहना चाहिए। वहाँ मन, वचन और कर्म से गुरु के परिवार का हित करना करना चाहिए।

पहिला आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम के नाम से पुकारा जाता है। व्रत-बन्ध करके पिता अपने पुत्र को किसी सुयोग्य आचार्य को समर्पित कर देता है। यहाँ वह बालक आयुष्य का पहला भाग (२५ वर्ष तक) विद्याध्ययन, गुरु-सेवा और सदाचार-पालन में

व्यतीत करता है। इतने काल मे उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ पूर्ण रूप से विकसित हो जाती है और वह गृहस्थाश्रम के योग्य वन जाता है।

गृहस्थाश्रम

चतुर्थ मायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौद्विजः।
द्वितीय मायुषो भागं, कृतदारो गृहेवसेत् ॥

(मनु

आयुष्य के चार विभाग का प्रथम भाग गुरुकुल मे बिताकर उसके द्वितीय भाग मे विवाह कर गृह मे वास करे।

दूसरा आश्रम गृहस्थाश्रम है। इसमे पहले आश्रम की सफलता दिखलाई है। इसका काल, आयुष्य का दूसरा भाग (२५ से ५०) तक है। गृहस्थ का अर्थ गृह मे रहने वाला होता है। इस आश्रम के कर्त्तव्य-कर्मों का भी नीचे उल्लेख किया जाता है:—

१—धर्म के साथ आजीविका के लिए धन एकत्र करना।

२—सुपात्रों को दान देकर संसार का हित करना।

३—नित्य अपने घर मे अग्निहोत्र करना।

४—पति-पत्नी मे परस्पर प्रेम और सहकारिता का भाव रखना।

५—बालकों का यथायोग्य पालन-पोषण करना तथा उनकी शिक्षा का प्रबन्ध करना।

६—देव-पूजन, माता-पिता की सेवा, वेद का पठन-पाठन, जीवों की रक्षा और अतिथि-सत्कार करना।

७—सरल और सदाचारयुक्त जीवन व्यतीत करना।

८—ईश्वर और धर्म पर विश्वास रख कर कार्य करना।

९—अनाचारों से बचने के लिए सदैव नियम-पूर्वक रहना।

१०—सत्य, शील और सज्जनता का परिचय देना।

११—परोपकार, दया, ज्ञान तथा उच्च विचारों में सदैव रत रहना।

वानप्रस्थाश्रम

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वली पलित मात्मन.।
अपत्यस्यैवचापत्यं, तदारण्यंसमाश्रयेत् ॥

(मनु)

गृहस्थ जब अपने शरीर को शिथिल देखे और पुत्र को भी पुत्र हो जाय, तब वन में प्रवेश करे।

तीसरा आश्रम वानप्रस्थाश्रम कहलाता है। इसमें पहले कहे हुए, दोनों आश्रमों से विरक्ती होने लगती है। इसका समय आयुष्य का तीसरा भाग (५० से ७५ तक) है। वानप्रस्थ का अभिप्राय ही वन मे बसने वाला है। इस आश्रम के वृती के पालन करने योग कर्त्तव्यों भी नीचे दिये जाते हैं:—

१—वन में कुटी बनाकर रहे और प्रकृति के तत्वों का निरीक्षण करें।

२—संसार के कल्याण के लिए विद्यार्थियों को विद्यादान दे।

३—पशु-पक्षी आदि सबको प्रेम की दृष्टि से देखे।

४—फल, मूल आदि खाकर अपना जीवन-निर्वाह करे।

५—नाना प्रकार की विद्याओं और विज्ञानों का आविष्कार करे।

६—सर्वदा संयम और सदाचार से अपने शरीर को शुद्ध और आत्मा को उन्नत बनावे।

७—व्रत और हवन से अपने हृदय और बुद्धि को शान्त और तीव्र बनावे।

८—धर्म-कर्म का आदेश गृहस्थों को भी देता रहे।

९—इन्द्रिय-दमन और योगाभ्यास को दृढ़ करे।

१०—परमात्मा के ध्यान और चिन्तन में मन को रमाता रहे।

संन्यासाश्रम

वनेषु च विहृत्यैवं, तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषोभागं, त्यक्त्वासङ्गान्परिव्रजेत्॥

(मनु)

इस प्रकार आयुष्य का तीसरा भाग वनों में बिता कर उसके चौथे भाग में (७५ से १०० तक) सब प्रकार के सम्बन्धों को त्यागकर संन्यासी हो जाय।

चौथे आश्रम का नाम संन्यासाश्रम है। यह अन्तिम आश्रम है।

इसमें पहले कहे गये तीनों आश्रमों के कर्मों का भी त्याग हो जाता है। सन्यास का अर्थ है—सम्पूर्ण रीति से त्याग। इस आश्रम के प्रधान कर्त्तव्य नीचे दिये जाते हैः—

१—शरीर-रक्षा के लिए अल्प तथा सात्विक आहार करना।

२—एक स्थान पर न रह कर देशाटन करना।

३—अपने पवित्र विचरों से संसार का हित करना और दोषों को दूर करना।

४—अपने मन को शुद्ध रख कर आचरण करना।

५—काम, क्रोध, लोभ, मोहादि विकारों से दूर रहना।

६—न जीने की इच्छा करना और न मरने का भय।

७—सत्य बात कहना और कभी मिथ्या का आश्रय न लेना।

८—प्राणि-मात्र पर दया रखना और सबके सुख-दुख को समान मानना।

९—क्षमाशील, शान्त, आत्मचिन्तक और ब्रह्मज्ञ बनना।

१०—योगाभ्यास और ईश्वर-स्मरण मे अपना समय बितना।

ब्रह्मचर्ययुक्त वर्ण व्यवस्था

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, गुण-कर्म-विभागशः।"

(श्रीभगवद्गीता)

चारों वर्णों की रचना उनके गुण और कर्म के विभाग के अनुसार की गई है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरूतदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यांशूद्रो अजायत ॥
(युजुर्वेद)

परम-पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, ऊरू से वैश्य और पैर से शूद्र उत्पन्न हुए हैं। सारांश यह कि ज्ञान, बल, धन और सेवा-प्रधान, ये मनुष्य-जाति के चार विभाग बनाये गये ।

१. ब्राह्मण

अध्यापन मध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रति ग्रहश्चैव, ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥
(मनुस्मृति)

पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना—ये ब्राह्मण के कर्म हैं ।

शमो दमस्तपः शौचं शान्तिरार्जव मेवच ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं, ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥
(श्रीभगवद्गीता)

मन की शान्ति, इन्द्रियों का दमन, जितेन्द्रियता, पवित्रता, क्षमा-शीलता, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता—ये ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण है ।

२. क्षत्रिय

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेवच ।
विषयेष्व प्रसक्तिश्च, क्षत्रियस्य समासतः ॥
(मनुस्मृति)

प्रजा-रक्षण, दान देना, यज्ञ करना अध्ययन करना, जितेन्द्रिय रहना—ये क्षत्रियों के संक्षिप्त कर्म हैं।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं, युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च, क्षात्र कर्म स्वभावजम्॥

(श्रीभगवद्गीता)

शूरता, तेज, धैर्य, दक्षता युद्ध मे दृढ़ता, दान और आस्तिकता—ये क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।

३. वैश्य

पशूनां रक्षणं दान मिज्याध्ययन मेवच।
वणिक्पथं कुसीदञ्च, वैश्यस्य कृषिरेवच॥

(मनुस्मृति)

पशुओं का संरक्षण, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, और सूद लेना—ये वैश्य के कर्म है।

४. शूद्र

एकमेव तु शूद्रस्य, प्रभुकर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां, शुश्रूषा मनुसूयया॥

(मनुस्मृति)

शूद्र का एक ही कर्म निर्धारित किया गया है कि ऊपर कहे गये वर्णों को बहुत संयमशीलता से सेवा करते रहे।

द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) को तो उपनयन, ब्रह्मचर्य और वेदाध्ययन का प्रत्यक्ष रूप से अधिकार है। तीनों वर्णों के कर्म भी ऐसे है, जो बिना ब्रह्मचर्य पालन किये कदापि नहीं चल

सकते। अब रहे शूद्र, यदि वे भी ब्रह्मचर्य से न रहे तो उन्हें भी सेवा-कार्य का सुचारू-रूप से निर्वाह करना परम कठिन है। क्योंकि योगिवर भर्तृहरि का कहना है कि सेवा-धर्म अत्यन्त कठिन है, उसका पालन करना योगियों को भी दुर्लभ होता है।

मनुष्य-शरीर में भी प्रकृति ने चारों वर्णों की व्यवस्था की है। ज्ञान, बल, ऐश्वर्य और सेवा-कार्य के बिना एक क्षण भी इसकी स्थिति नहीं हो सकती। इसलिए इस प्रकार भी यह बात स्वाभाविक है कि ब्रह्मचर्य-व्रत से इस चातुर्वर्ण्य की उन्नति की जाय।

गुरुकुल-ऋषिकुल

"विद्यार्थानि गुरोः कुले।"

(सूक्ति)

विद्यार्थी को गुरुकुल में विद्या की प्राप्ति होती है।

"ऋषयो मन्त्र-द्रष्टारः।"

ऋषि लोग हित की बात विचारने वाले थे; या संसार को शिक्षा देते थे।

आर्य-सभ्यता के समय में हमारे इस देश में स्थान-स्थान पर गुरुकुल और ऋषिकुल थे। गुरुकुल और ऋषिकुल उस स्थान को कहते हैं, जहाँ गुरु या ऋषि का परिवार रहता हो।

वह गुरुकुल या ऋषिकुल उस स्थान पर होता था, जो जल-वायु की दृष्टि से सर्वोत्तम मान जाता हो। यह प्रायः हरे-भरे वनों या

उर्वरा पर्वतीय भूमि पर होता था। यहाँ नाना प्रकार के स्वास्थ्य-कारक वृक्ष, फल और फूलों की अधिकता होती थी। भिन्न-भिन्न जाति के पशु और मनोहर शब्द करने वाले पक्षियों को आने-जाने का पूर्ण स्वाधीनता रहती थी।

इस एकान्त स्थान में गुरु या ऋषि लोग अपनी पत्नी और सन्तान-सहित निवास करते थे। बहुत-से ऐसे भी रहते थे, जिनके पास पत्नी और सन्तान नही रहती थी।

गुरु वे लोग होते थे, जो ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रम का विधिवत् पालन कर वान-प्रस्थाश्रम में प्रविष्ट हाते थे। वे यथा-समय पुत्र और पौत्रों को गृह पर छोड़ कर इस आश्रम में आते थे। वे पत्नी को भी त्याग देते थे, या उसके स्वीकार करने पर अपने साथ रखते थे। उनके आयुष्य का तृतीय या शेष सम्पूर्ण भाग ब्रह्मचारीयों के विद्या-दान और सद्ज्ञान के चिन्तन में व्यतीत होता था।

ऋषि लोग वे होते थे, जो सदैव ब्रह्मचारी रह कर लोक का कल्याण करते थे। विद्या-दान को वे सबसे बड़ा पुण्य समझते थे। इसलिए वे प्रायः विद्यार्थियों को अपने यहाँ रखकर वेद तथा वेदाङ्गों की शिक्षा देते थे। विवाह उनकी इच्छा पर निर्भर रहता था। उनका जीवन परम पवित्र और सात्विक होता था। विद्यार्थी लोग उनके अनुकरण से अपने को योग्य बनाते थे।

गुरुओं और ऋषियों के सिद्धान्त प्रायः एक से थे। गुरु लोगों की अपेक्षा ऋषि लोग अधिक निःस्वार्थी होते थे। सपत्नीक रहने के कारण गुरुओं को विशेष आवश्यकता रहती थी, पर ऋषियों को मुक्तता थी।

इन गुरुकुलों और ऋषिकुलों में राजा तथा अन्य धर्मात्मा पुरुष ब्रह्मचारियों के दर्शन के लिए आते थे और उचित सहायता देने के लिए प्रार्थना करते थे। विद्यार्थी और गुरु सभी स्वावलम्बी होते थे। वे अपने लिए परिश्रम और पुरुषार्थ से स्वयं वृत्ति उपार्जित कर लेते थे।

इस गुरुकुल और ऋषिकुल-प्रणाली से देश और समाज का बड़ा लाभ होता था। प्रजा को शिक्षा के लिए कष्ट नहीं उठाना पड़ता था। राजा और प्रजा दोनों गुरुकुल तथा ऋषिकुल की स्वतः सेवा किया करते थे।

जबसे इस देश में गुरुकुल और ऋषिकुल की प्रणाली नष्ट हुई, तबसे ब्रह्मचर्य और विद्या का लोप होता गया। आजकल की विद्यालय-प्रथा से बहुत कम लाभ होता है। गुरुकुल काँगड़ी, ऋषिकुल हरिद्वार, शान्ति-निकेतन बोलपुर, सत्याग्रह-आश्रम अहमदाबाद और वर्धा तथा कन्या-गुरुकुल दिल्ली से कुछ जनता का हित-साधन हो रहा है; पर इस देश की जन-संख्या को देखते हुए ये बहुत थोड़े हैं। ये नवीन युग के अनुकूल चलने के उद्योग में हैं। इनसे इस दिशा में अच्छी प्रगति हुई है। जनता के भाव बदलने में इनका खासा हिस्सा है।

उपनयन-संस्कार

"संस्कारात्प्रबला जातिः"

(अथर्ववेद)

संस्कार के प्रभाव से जाति को प्रबलता प्राप्त होती है।

यज्ञोपवीत-संस्कार बड़े महत्व का है। इस संस्कार के साथ ही बालक का ब्रह्मचर्याश्रम प्रारम्भ होता है।

इस संस्कार की प्रणाली वैदिक है। इसके बिना बालक वेद का अधिकारी नहीं होता। प्राचीन काल में इस संस्कार के हो जाने पर, माता-पिता अपने बालकों को गुरुकुलों में भेज देते थे। उपनीत बालक को उसका आचार्य वेद पढ़ाता था।

प्रायः सभी स्मृतियों ने केवल द्विजाति को ही यज्ञोपवीत का अधिकारी माना है। मनुस्मृति में बालक के यज्ञोपवीत-काल का इस प्रकार विधान किया गया है:—

गर्भाष्टमाब्देऽकुर्वीत, ब्राह्मस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो, गर्भात्तु द्वादशेविशः॥

गर्भ से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का, ग्यारहवें में क्षत्रिय का और बारहवें में वैश्य का उपनयन करना चाहिए।

ब्रह्मवर्चसकामस्य, कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे,वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥

ब्रह्मतेज की कामना से ब्राह्मण का पाँचवें वर्ष में, बलोत्साह की इच्छा से क्षत्रिय का छठे में और धनैश्वर्य के मनोरथ से वैश्य का आठवें में उपनयन कर देना योग्य है।

आषोडशाद् ब्राम्हणस्य, सावित्री नाति वर्त्तते ।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धी राचतुर्विंशतेर्विशम् ॥

सोलह वर्ष के पश्चात् ब्राह्मणों को, बाईस के पश्चात् क्षत्रियों को और चौबोस के पश्चात् वैश्यों को सावित्री (गायत्री मन्त्र) का उपदेश नहीं किया जा समता ।

यदि उपर्युक्त वर्षों से पूर्व यज्ञोपवीत न हुआ, तो वह बालक पतित हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि वह ब्रह्मचर्य और वेदाध्ययन के योग्य नहीं रह जाता । बिना यज्ञोपवीत के वह गुरुकुलों में भेजा नहीं जा सकता और अवस्था अधिक हो जाने से वह बालक कुसंस्कारी हो जाता है। अधिक अवस्था वाले बालक पर आचार्य अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। जब कुसंस्कार दृढ़ हो जाते है, तो उनका दूर करना बड़ा कठिन हो जाता है। इसीलिए ब्रह्मचारी के लिए यज्ञोपवीत के अतिरिक्त मृगचर्म, मेखला और दण्ड—ये तीन वस्तुयें भो आवश्यक हैं। भगवान् मनु ने इनका भी विधान वर्णक्रम के अनुसार किया है।

यज्ञोपवीत धारण करने का अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचारी अपने ब्रह्मचर्य, वेदाध्यन और गुरु-शुश्रूषा में दृढ़-प्रतिज्ञता, उत्तमता और क्षमता को प्राप्त करे। मृगचर्म का यह अभिप्राय है कि पवित्रता, निःस्वार्थपरायणता और स्वाधीनता-पूर्वक वह अपना समय व्यतीत करे। मेखला का यह अभिप्राय है कि वह अपने अनुष्ठान में कटिबद्धता, नियमितता और धार्मिकता से लगा रहे। और दण्ड का यह

अभिप्राय है कि उन्नत तथा उच्च विचारों से आत्म-दमन, शरीर-संरक्षण और निर्भीकता के लिए प्रयत्न करता रहे।

आचार्य के दिव्योपदेश

"अचार्यो ब्रह्मचारी।"

(अथर्ववेद)

आचार्य ब्रह्मचारी (सदाचार का पालन करनेवाला) होता है, या यों कहिए कि आचार्य सद्ज्ञान का उपदेश देता है।

"वेद-प्रदानाचार्यं पितरं परिचक्षते।"

(धर्मज्ञ मनु)

वेद-विद्यायें पढ़ाने के कारण आचार्य पिता माना गया है।

बालक का विधि-विहित यज्ञोपवीत-संस्कार हो जाने पर उसके माता-पिता उसे गुरुकुल में वेद पढ़ने के लिए प्रविष्ट करा देते हैं। वहाँ वह अपने आचार्य को पिता मानकर उसकी संरक्षता में समय व्यतीत करने लगता है। इस अवस्था में आचार्य उसके हित के लिए नाना प्रकार के दिव्य उपदेश देता है। इस कर्त्तव्य के सम्बन्ध में वेद-परक तैत्तिरीय उपनिषद् में इस प्रकार लिखा है :—

वेदरनुच्याचार्योऽमन्तेवासिन मनुशास्तिः—

आचार्य अपने ब्रह्मचारी शिष्य को इसप्रकार शिक्षा देता है:—

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।

हे पुत्र! तू सत्य बोलना। धर्म पर चलना और स्वाध्याय (पाठ) में प्रमाद न करना।

आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।

पूर्ण ब्रह्मचर्य से विद्याध्ययन के समाप्त होने पर आचार्य को दक्षिणा देकर, सन्तानोत्पत्ति के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना।

सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्।

प्रमाद-वश होकर सत्य से विमुख न होना, प्रमाद के कारण धर्म को न त्याग देना, और प्रमादयुक्त होकर सत्कर्म को न खो बैठना।

भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

अपने ऐश्वर्य की वृद्धि में प्रमाद न करना—अपने पठन-पाठन में असावधानता मत करना, और देव तथा पितरों के कार्य से विरक्त न होना।

मातृदेवो भव। पितृ देवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव।

अपने माता-पिता, आचार्य तथा अतिथि का सत्कार करना।

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि।

जो कर्म दोष-रहित हों, उनका पालन करना। दुष्कर्मों को कभी नहीं।

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।

जो हमारे अच्छे आचरण हों, उनका अनुकरण करना। कुचरित्रों का नहीं।

ये के चास्मच्छ्रेयां सो ब्राह्मणास्तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्।

जो लोग हममें उत्तम ब्रह्मज्ञानी हैं, उन्हींके सत्सङ्ग का विश्वास करना।

श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से देना, शोभा से देना, लज्जा से देना, और प्रतिज्ञा से दान देना चाहिए।

अथ यदि ते कर्म विचिकित्सा वा वृत्त विचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनो युक्ता अयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युर्यथा ते तत्र वर्त्तेरन्, यथा तत्र वर्त्तेथाः।

कभी कर्म या ज्ञान सम्बन्धी संशय उपस्थित हों, तो ऐसी अवस्था मे ब्रह्मज्ञानी, पक्षपात-रहित, योगी, अयोगी, दयावान् और धर्म के प्रेमी वहाँ जैसा आचरण करते हों वैसा ही आचरण करना योग्य है।

एषआदेश, एष उपदेश, एषा वेदोपनिषद्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमुचैतदुपास्यम्।

यही आज्ञा है, यही उपदेश है,तथा यही वेद और उपनिषद्

की शिक्षा है। यही करना चाहिए। इसी प्रकार के सदाचार का पालन कर्त्तव्य है।
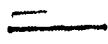
पठन-पाठन के आदेश

"पालनीया गुरोराज्ञा।"

(सूक्ति)

गुरु की आज्ञा का पालन करना चाहिए।

"सर्वेषा मेवदानानां, विद्यादानं विशिष्यते।"

(नीति-शास्त्र)

सब प्रकार के दानों में विद्यादान श्रेष्ठ है।

हमारे प्राचीन गुरुकुलों और ऋषिकुलों की पाठ-प्रणाली बड़ी सुखद थी। आजकल की भाँति अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं थे। पढ़नेवाले और पढ़ानेवाले में परस्पर शिष्य और गुरु का सम्बन्ध था। एक पुत्र और दूसरा पिता के समान माना जाता था और इसी प्रकार परस्पर व्यवहार भी किया जाता था।

तैत्तिरीयोपनिषद् में विद्यार्थी और अध्यापक के लिए बड़े ही उत्तम आदेश किये गये हैं। वह यहाँ दिये जाते हैं :—

ऋतञ्च स्वाध्याय प्रवचने च। सत्यञ्च स्वाध्याय प्रवचने च तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च। दमश्च स्वाध्याय प्रवचने च॥ शमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्याय प्रवचने च।

१—नियमबद्धता के साथ विद्या को पढ़ना और पढ़ाना चाहिए।

२—सत्य-प्रियता के साथ विद्या को पढ़ना और पढ़ाना चाहिए।

३—परिश्रम-शीलता के साथ विद्या पढ़ना और पढ़ना चाहिए।

४—इन्द्रिय-दमन के साथ विद्या पढ़ना और पढ़ाना चाहिए।

५—मनोनिग्रह के साथ विद्या पढ़ना और पढ़ाना चाहिए।

६—विज्ञान-तर्क के साथ विद्या पढ़ना और पढ़ाना चाहिए।

७—अग्निहोत्र के साथ विद्या पढ़ना और पढ़ाना चाहिए।

८—अतिथि-सत्कार के साथ विद्या पढ़ना और पढ़ाना चाहिए।

९—मनुष्योचित्त व्यवहार के साथ विद्या पढ़ना और पढ़ाना चाहिए।

१०—ज्ञान-सुधार के साथ विद्या पढ़ना और पढ़ाना चाहिए।

११—ब्रह्मचर्य-रक्षा के सहित विद्या पढ़ना और पढ़ाना चाहिए।

१२—आश्रित-पालन के सहित विद्या पढ़ना और पढ़ाना चाहिए।

ऊपर कहे गये आदेशों में १२ बातें पठन और पाठन के लिए प्रधान बतलाई गई है। इन्हे देखने से प्राचीनकाल की विचारशीलता का भलीभाँति बोध हो जाता है।

१ नियम-बद्धता, २ सत्य-प्रियता, ३ परिश्रम-शीलता—इन तीनों के बिना विद्या पढ़ी और पढ़ाई नहीं जा सकती। शिष्य और गुरु दोनों को नियम-बद्ध, सत्य-प्रिय और परिश्रम-शील होना आवश्यक है।

४ इन्द्रिय-दमन, ५ मनोनिग्रह, ६ विज्ञान-तर्क—इन तीनों के साथ विद्या पढ़ने और पढ़ाने से वह फलवती होती है। इन्द्रिय-लोलुपता, चित्त की अस्थिरता और अन्ध-विश्वास से पढ़ी या पढ़ाई गई विद्या कभी किसी अर्थ की नहीं होती।

७ अग्नि-होत्र, ८ अतिथि सत्कार, ९ मनुष्योचित व्यवहार—ये तीनों सत्कर्त्तव्य हैं। विद्या पढ़ने या पढ़ाने का यही अभिप्राय है कि इन कर्त्तव्यों का विधिवत् पालन हो। शिष्य और गुरु दोनों के लिए ये अत्यन्त उपयोगी हैं।

१० जन-सुधार, ११ ब्रह्मचर्य और १२ अश्रितपालन—इन तीनों के बिना भी विद्या का पढ़ना-पढ़ाना व्यर्थ है। शिष्य और गुरु दोनों को जन्म-सुधारक, ब्रह्मचारी और आश्रितपालन बनना योग्य है।

यही कारण था कि प्राचीन समय में हमारे देश में शिष्य और गुरुओं की विद्या सफल होती थी। वे लोग इन्हीं आदेशों को ध्यान में रख कर विद्या पढ़ते और पढ़ाते थे। यदि आजकल भी इन आदर्शों पर चला जाय, तो ब्रह्मचर्य और विद्या का पुनः देश भर में निश्चय रूप से प्रचार और सुधार किया जा सकता है।

गुरु-महिमा

"आचार्यस्ततक्षनभसी उभेइमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवञ्च ।"
(अथर्ववेद)

आचार्य अत्यन्त गम्भीर, भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान, जिस से दोनों लोकों का सुधार होता है, अपने शिष्य को कराता है।

"गुरुः साक्षातपरब्रह्म, तस्मैश्रीगुरवे नमः ।"

गुरु साक्षात् परमात्मा है। इसलिए उसे हमारा नमस्कार है।

बालक का प्रथम जन्म माता-पिता से होता है और दूसरा जन्म आचार्य देता है। इसी कारण से सर्वत्र उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। ब्रह्मचर्य-सूक्त में ब्रह्मचारी के इस दूसरे जन्म का बड़ा उत्तम रूपक बाँधा गया है।

वास्तव मे गुरु या आचार्य की महिमा अपार है। वह बालक का अज्ञान-रूपी अन्धकार में उपदेश रूपी प्रकाश देकर सत्पदार्थों के दर्शन कराता है। उसके सद्व्यवहार, परम स्वार्थत्याग, कर्त्तव्य-निष्ठा, प्रगाढ़ परिश्रम, अनुपम अनुभव और सदाचार से ही ब्रह्मचारी का जीवन बनता है। यह उक्ति बहुत सत्य है कि जैसा गुरु होता है, उसका शिष्य भी वैसा ही बनता है ।

संसार में शिक्षा का काम बड़ा महत्वपूर्ण और क्लिष्ट है। सभी लोग इसके अधिकारी नहीं हो सकते । इसके लिए बड़े अनुभव, ज्ञान, बुद्धिमत्ता, विद्वत्ता और संयमशीलता की आवश्यकता

है। जिस पुरुष के हाथ में भावी लोक-सुधार का कार्य सौंपा गया हो, वह क्यों न सबसे पूज्य तथा प्रतिष्ठित हो ?

धर्मज्ञ मनु ने अपने ग्रन्थ में आचार्य की परिभाषा तथा उसके कर्म की प्रशंसा इस प्रकार की है :—

उपनीय तु यः शिष्यं, वेदमध्यापयेद्द्विजः ।
संकल्पं सरहस्यञ्च, तमाचार्यं प्रचक्षते ॥

जो बालक का यज्ञोपवीत कराकर यज्ञ-विधि, उपनिषद् तथा वेदाङ्ग सहित वेदों को पढ़ाता है, उसे आचार्य कहते हैं।

नानाविधानि कार्याणि कर्त्ता-कारयिता च यः ।
सर्व धर्म विधिज्ञश्च स आचार्य उच्यते ॥

नाना प्रकार के वैदिक कर्मों को करने और करानेवाला और सब प्रकार के यज्ञ-धर्म की विधि जानने वाला आचार्य कहलाता है।

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं, विधिवद्वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा ॥

साङ्गोपाङ्ग वेद का ज्ञाता आचार्य जिस जाति को गायत्री-मन्त्र देकर उत्पन्न करता है, वह सत्य तथा अजर-अमर होती है।

आदर्श शिष्य

"को वा गुरुर्यस्तु हितोपदेष्टा ।
शिष्यस्तु को यो गुरु-भक्त एव ॥"

(शंकराचार्य)

गुरु कौन है ? जो हित का उपदेश करे । और शिष्य कौन है ? जो गुरु की आज्ञा माने ।

"गुरु शुश्रूषया विद्या ।"

गुरु की सेवा से विद्यार्थी को ज्ञान प्राप्त होता है ।

गुरु-शिष्य का सम्बन्ध बड़ा घनिष्ट होता है । पिता-पुत्र की उपमा भी इसके लिए कुछ अंशों मे चरितार्थ हो सकती है । जो गुरु हित का उपदेशक नहीं है, उससे विद्यार्थी का वास्तविक लाभ कभी नहीं हो सकता । और उसी प्रकार जो शिष्य आज्ञाकारी नहीं है, उसे त्रिकाल मे ज्ञान नहीं मिल सकता । इस बात की सत्यता नीचे के उदाहरण से प्रकट हो जायगी :—

एक आचार्य के यहाँ एक ऋषिकुमार पढ़ता था । उसका नाम आरुणि था । एक दिन धान का खेत देखने के लिए उसके गुरु ने उसे भेजा । वहाँ डाँड कट जाने के कारण पानी बाहर बह रहा था । वहाँ से उसके घर लौटने भर में खेत का सारा पानी निकल जाता और धान सूख जाता । यह विचार कर आरुणि स्वयं उसीमे पड गया और इस प्रकार पानी रोके उसे दिन वहीं बीत गया । सन्ध्या-समय गुरु को ध्यान आया कि क्या कारण है कि आरुणि अभी तक घर

नहीं लौटा ? अतएव वह अपने दूसरे शिष्य को लेकर उसे देखने गये नाम लेकर पुकारने पर वह बोला, गुरुजी मैं यहाँ पानी रोक कर पड़ा हूँ। जब सब लोग उसके पास पहुँच गये, तब उसने सारा समाचार कह सुनाया। लोगों ने मिलकर मेंड बांध दी, तथा आरुणि के गुरु उससे अत्यन्त प्रसन्न हुए। गुरु की इस कृपा और आशीर्वाद से आरुणि थोड़े ही दिनों में प्रकाण्ड पण्डित हुआ।

× × × ×

एकलव्य नाम का एक भील था। उसके मन में अभिलाषा हुई कि द्रोणाचार्य से बाण-विद्या सीखें, पर आचार्य ने उसे नीच समझ कर विमुख फेर दिया। इस पर वह वन में जाकर द्रोणाचार्य की एक प्रस्तर की मूर्ति खड़ी कर उसके सम्मुख बाण चलाता था। इस श्रद्धा और विश्वास से थोड़े ही दिनों में वह बालक बड़ा निपुण धनुर्धर हो गया।

एक दिन वीरवर अर्जुन अपने भाइयों सहित उस वन में गये। वहाँ इसकी बाणविद्या के कौशल को देखकर उनके मन में बड़ा द्वेष उत्पन्न हुआ। उनके पूछने पर उसने अपने को द्रोणाचार्य का शिष्य बतलाया। यह बात जानकर अर्जुन को बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने आचार्य से जाकर कहा कि जो बाण-विद्या आपने एकलव्य को सिखलाई है, वह मैं नहीं जानता। यह कैसी बात ?

अर्जुन का यह उपालम्भ द्रोणाचार्य के हृदय में लगा और इस बात की परीक्षा के लिए वह एकलव्य के पास गये। उससे इन्हें सब समाचार ज्ञात हुआ। इसपर आचार्य ने गुरु-दक्षिणा मांगी कि तुम

अपने दाहिने हाथ का अंगूठा हमें दे दो। इसपर उसने अपने को धन्य समझ कर सहर्ष अगूठा काटकर तत्काल प्रदान किया और आचार्य उसे आशीर्वाद देकर विदा हुए।

ऐसे ही सच्चे शिष्यों पर विद्यादेवी की कृपा रहती है। इसी प्रकार के गुरु-भक्त शिष्यों से देश, जाति और समाज का दुःख दूर हो सकता है।

ब्रह्मचर्य के तीन प्रकार

"न किंचिद्भयमाप्नोति, ब्रह्मचर्यव्रते स्थितः।"

(सूक्ति)

ब्रह्मचर्य-व्रत मे स्थित रहने से तनिक भी भय नहीं रहता।

"ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्।"

ब्रह्मचर्य ही परम तप है।

छान्दोग्योपनिषद् मे ब्रह्मचर्य का बहुत ही उत्तम उल्लेख है। उसमें ब्रह्मचर्य के तीन प्रकार बतलाये गये हैं। कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। प्रत्येक प्रकार के लिए आयुष्य का एक नियमित काल निर्धारित किया गया है और उन्हीं मन्त्रों में उनसे होने वाले लाभों का भी वर्णन है। नीचे इन आवश्यक मन्त्रों को उनके अभिप्रायार्थ के साथ यहाँ उद्धृत करते हैं:—

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रात सवनं, चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातः सवनंतदस्य वस वोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदꣳ सर्वं वासयन्ति।

तन्नेदेतस्मिन् वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातः सवनं माध्यन्दिनं सवनमनु सन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूना मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति।

१—यह पुरुष अन्नरस-मय देह और जीवात्मा के योग से बना है। यह स्वयं यज्ञ-रूप है। इसका सत्कर्त्तव्य है कि जैसे २४ अक्षरों की गायत्री होती है और उससे कल्याण साधन होता है, उसी प्रकार यह भी २४ वर्ष-प्रर्यन्त जितेन्द्रियत्व को धारण करे। उसके इस कार्य से उसके प्राण बलवान होकर सब दिव्य गुणों से युक्त होते हैं। ब्रह्मचारी के आचार्य को चाहिए कि उसे इस पथ पर चलने का हितोपदेश करता रहे। ब्रह्मचारी भी अपने मन में यह धारणा करे कि इस व्रत के पालन से उसकी आत्मा वीर्यवान् और शरीर शक्तिमान् हो जायगा और उसके अन्त कारण में सद्गुणों का विकास होगा। हे मनुष्यो! तुम सब सुखों के प्रकाश करने वाले ब्रह्मचर्य का लोप न होने दो।

"अथयानिचतुश्चत्वारिंशत्वर्षाणित-माध्यन्दिनं सवनं चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणः वांव रुद्रा एते हीदछं सर्वं रोदयन्ति।"

"तं चेदस्मिन्वयसि किंचिदुपत पेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदंमे माध्यन्दिन सवनं तृतीय सवनमनुसन्तनुतेति माहंप्राणानां रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदोह भवति।"

२—मध्यम ब्रह्मचर्य—जैसे ४४ अक्षरों का त्रिष्टुप्-छन्द होता है, वैसे ही जो पुरुष ४४ वर्षों तक ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करता है,

उसके प्राण और सर्वाङ्ग बलवान् होकर दुर्गुणों का नाश करते हैं। यदि हम प्रथम वय में इस कहे हुए ब्रह्मचर्य का विधिवत् पालन करेंगे, तो हमारे प्राण रुद्र-रूप होकर सज्जनों का कल्याण करेंगे। हे ब्रह्मचारियो ! जैसे हम इस ब्रह्मचर्यव्रत का अनुष्ठान कर सुख-स्वरूप और जनता के सेवक बनते है ऐसे तुम भी बनो !

"अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद् वर्षाणि ततृतीयसवनमष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगतीजागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्यान्वायत्तः प्राणा वावादित्या एतेहीद ँ सर्वमाददते ।"

"तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसन्तनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्येयज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति।"

३—और उत्तम ब्रह्मचर्य—जैसे ४८ अक्षरों का जगतीछन्द होता है, वैसे ही जो पुरुष इस प्रकार के ब्रह्मचर्य-व्रत का नियम-पूर्वक साधन करता है, उसके प्राण आदित्य रूप होकर सद्गुणों का प्रकाश करते है।

मरुत् और साध्यपद-ब्रह्मचारी

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन। न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ।

(छान्दोग्योपनिषत्)

जो पुरुष ४८ वर्ष से ऊपर के ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते है, और चौथे वेद (अथर्व) का अध्ययन करते है, उन्हे 'मरुत्

ब्रह्मचारी' कहते हैं। ऐसे ब्रह्मचारी का मुख चन्द्रमा की भांति शोभित होता है और वे जो कुछ खाते या पीते हैं, उसमें कामना नहीं रखते। वे केवल अमृत-स्वरूप ब्रह्म (परमात्मा) का साक्षात्कार कर तृप्त रहते है।

त एतदेवरूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति।

वे मरुत् नाम के ब्रह्मचारी इसी ब्रह्म का चारों ओर अनुभव करते और इसीकी कृपा से सर्वत्र कामचारी होते है।

अथ पञ्चमममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन।
न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥

(छान्दोग्योपनिषत्)

जो पुरुष जीवन-भर ब्रह्मचर्य मे लीन रहते हैं, और साङ्गोपाङ्ग चारों (ऋग्यजुसाम और अथर्व) वेदों का अध्ययन करते हैं, वे 'साध्य-पद-प्राप्त ब्रह्मचारी' कहलाते हैं। ऐसे ब्रह्मचारी का मुख-मण्डल ब्रह्म के समान तेजस्वी होता है और वे न तो कुछ खाते है, न पीते है, वरन् अमृतमय ब्रह्म में ही लीन होकर तृप्त होते हैं।

त एतदेवरूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति।

वे साध्यपद-प्राप्त ब्रह्मचारी इसी ब्रह्म (परमात्मा) का सर्वत्र अनुभव करते हुए ज्ञान के प्रभाव से प्रकाशित होते हैं।

ब्रह्मचारी की भिक्षा

"सायं प्रातश्चरेद्भैक्षं, भोज्यार्थं संयतेन्द्रियः।"

(हारीत)

ब्रह्मचारी अपने भोजन के लिए सन्तोषपूर्वक सायं और प्रातःकाल भिक्षा माँगे।

"इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामाजभार प्रथमो दिवञ्च।"

(अथर्ववेद)

पहले-पहल ब्रह्मचारी ने विस्तृत भौतिक ज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान की भिक्षा माँगी।

गुरुकुल में रहने की अवस्था में ब्रह्मचारी अपने आचार्य का अन्न नहीं ग्रहण करता। वह स्वयं अपने पुरुषार्थ से अन्य स्थानों से भिक्षा माँग लाता है। इस भिक्षा का बड़ा महत्व है। इसे वह पहले-पहल लाकर अपने आचार्य को समर्पित करता है। उसका आचार्य उसमें से जो कुछ दे देता है, उसे खाकर प्रसन्नता-पूर्वक वह अपना जीवन व्यतीत करता है।

प्राचीन काल में प्रायः सबके पुत्र गुरुकुलों में पढ़ने जाते थे, और भिन्न-भिन्न घरों से भिक्षा माँगते थे। इसलिए सब घरों की मातायें और बहनें उत्तमोत्तम पदार्थ, जो ब्रह्मचारी द्वार पर आ जाता था, उसे देती थीं। वे यह समझती थीं कि इसी प्रकार हमारा पुत्र और भाई दूसरों के द्वार पर जाकर भिक्षा माँगता होगा। अतएव इस प्रकार के सद्भाव से सभी ब्रह्मचारी सुखी रहते थे और उन्हे

भिक्षा के लिए विशेष कष्ट नहीं करना पड़ता। जो कुछ उन्हें प्राप्त हो जाता था, उसे ही लेकर चले जाते थे।

भिक्षा में मिली हुई सम्पूर्ण वस्तु गुरु को समर्पित कर देने का यह अभिप्राय था कि ब्रह्मचारी जिह्वा-लोलुप न हो जाय। उसके पास सब सामग्री रहने से वह अधिक भोजन कर जायगा और इससे रोग उत्पन्न होगा तथा उसके विद्याध्ययन में विघ्न पड़ेगा। वह स्वार्थी बन जायगा और भोजन को ही सब कुछ समझ बैठेगा। इससे ब्रह्मचर्य-व्रत में हानि होगी।

नीचे भिक्षा के सम्बन्ध में ब्रह्मचारी के लिए उपयोगी नियम दिये जाते हैं:—

१—वेदज्ञ, यज्ञकर्त्ता और धर्मात्मा पुरुषों के घर से सदा भिक्षा लाना योग्य है। इसलिए कि सज्जनों के यहाँ से पवित्र और सात्विक पदार्थ ही दिया जाता है, जिससे स्वास्थ्य और मन पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता।

२—आचार्य, कुल, स्वजाति और सम्बन्धियों के यहाँ से भिक्षा न लानी चाहिए। इसलिए कि इन स्थानों में जाने से सङ्कोच होता है, जान-पहिचान के कारण विशेष समय नष्ट होता है तथा अपमान का भी भय रहता है।

३—नीरोग रहने की दशा में एक सप्ताह तक भिक्षा माँगने न जाने से ब्रह्मचारी को प्रायश्चित-रूप में 'अवकीर्णि व्रत' करना पड़ता है। यह इसलिए कि असावधानी, प्रमाद और आलस्य उसमें न आने पावे।

४—एक ही घर का अन्न न लेकर, भिन्न-भिन्न घरों से भिक्षा ग्रहण करना उचित है। इसका अभिप्राय यह है कि एक ही गृहस्थ पर अधिक भार न पड़े, जिससे कि उसकी भिक्षा देने की श्रद्धा घट जाय।

५—दुष्ट, पातकी और अभिमानी के घर से भिक्षा लेने की अपेक्षा निराहार मर जाना भी उचित है। अधर्मियों का अन्न अपवित्र तथा अभक्ष्य होता है। उसे ग्रहण करने से बुद्धि नष्ट हो जाती है और रोग उत्पन्न होता है, जिससे ब्रह्मचर्य-व्रत खण्डित होने का भय रहता है।

ब्रह्मचारी के तीन प्रकार

"ब्रह्मचारी एति चरति रोदसी उभे।"

अथर्ववेद

ब्रह्मचारी भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के ज्ञान का अर्जन करके प्रचार करता है।

"ब्रह्म ब्रह्मचारिभि रुदक्रामत्।"

ब्रह्मचारी से ही ब्रह्मज्ञान का प्रकाश होता है।

छान्दोग्योपनिषद् में महत्त्व की दृष्टि से ब्रह्मचर्य के तीन प्रकार माने गये हैं। कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। पहले में २४ वर्ष, दूसरे में ४४ वर्ष और तीसरे में ४८ वर्षों का विधान है। इस भांति ब्रह्मचारी भी तीन प्रकार के होते हैं। कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम।

कनिष्ठ ब्रह्मचर्य के सिद्ध होने पर ब्रह्मचारी की वसु संज्ञा होती है। 'वसु ब्रह्मचारी' कहे जाने का अभिप्राय यह है कि २४ वर्ष के ब्रह्मचर्य से वह परम ऐश्वर्यशाली हो जाता है। मध्यम ब्रह्मचर्य के सिद्ध होने पर ब्रह्मचारी की रुद्र संज्ञा होती है। 'रुद्र ब्रह्मचारी' कहने का तात्पर्य यह है कि ४४ वर्ष के ब्रह्मचर्य से अत्यन्त पराक्रम प्राप्त होता है। और उत्तम ब्रह्मचर्य के सिद्ध हो जाने पर ब्रह्मचारी की आदित्य संज्ञा होती है। 'आदित्य ब्रह्मचारी' कहने का आशय यह है कि ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य से वह उत्कट तेजस्वी हो जाता है।

वसु ब्रह्मचारी को ऐश्वर्य, रुद्र ब्रह्मचारी को ऐश्वर्य और पराक्रम और आदित्य ब्रह्मचारी को ऐश्वर्य, पराक्रम तथा तेज तीनों प्राप्त होते है। वैश्य को वसु, क्षत्रिय को रुद्र और ब्राह्मण को आदित्य ब्रह्मचारी बनना चाहिए।

वसु ब्रह्मचारी के मुख पर इन्द्र की सी कान्ति, रुद्र ब्रह्मचारी के मुख पर महादेव की सी गुरुता और आदित्य ब्रह्मचारी के मुख पर सूर्य की सी ज्योति होती है।

ब्रह्मचारी के वर्जित कर्म

"गर्भो भूत्वाऽमृतस्ययोना विन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह।"

(अथर्ववेद)

ब्रह्मचारी ज्ञान के केन्द्रस्थान से बाहर निकला। अब वह उत्कट विद्वान् होकर दुर्गुणों का दृढ़ता से संहार करने लगा।

"तत्रास्य माता सावित्री, पिता त्वाचार्य उच्यते"

(मनुस्मृति)

गुरुकुल में सावित्री ब्रह्मचारी की माता और आचार्य पिता कहलाता है।

ब्रह्मचर्य का पालन करना सरल काम नहीं। एक भी असावधानी होने से अनेक विघ्न खड़े हो जाते हैं। ब्रह्मचारी को बड़े आचार-विचार से रहना पड़ता है। इसलिए विद्वान् ऋषियों ने संयम और सदाचार से रहने का शास्त्रों में विधान किया है। नीचे लिखे कर्म ब्रह्मचारी के लिए वर्जित हैं इनके करने से ब्रह्मचारी पतित, उसकी आत्मा निस्तेज और उसका व्रत भङ्ग हो जाता है:—

वर्जयेन्मधुमांसञ्च, गन्धं माल्यं तथा स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि, प्राणिनांचैव हिंसनम्॥

मधु और मांस न खाय, पुष्पों की माला न पहने, सुगन्धित द्रव्य का व्यवहार न करे, सरस भोजन न करे, स्त्रियों में न रमे, सिरका आदि न खाय और जीवों को न मारे।

अभ्याङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्र धारणम्।
कामं क्रोधञ्च लोभंच, नर्त्तनं गीतवादनम्॥

शरीर में तेल लगाना, आँखों में अञ्जन देना, जूता और छाता धारण करना, मान, क्रोध, लोभ तथा गाना-बजाना वर्जित है।

द्यूतञ्च जनवादंच परिवादं तथाऽनृतम्।
स्त्रीणांच प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥

जुआ खेलना, किम्वदन्ती उड़ाना, निन्दा करना, असत्य बोलना,

स्त्रियों को निहारना और अंग लगाना दूसरे का अपकार करना मना है।

हस्त्यश्वारोहणं चैव, सन्त्यजेत्संजितेन्द्रियः।

ब्रह्मचारी हाथी और घोड़े आदि सवारी पर न चढ़े।

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रिय-ग्रामो, विद्वांसमपि कर्षति॥

माता, बहन वा पुत्री किसी के साथ एकान्त मे न बैठना चाहिए। क्योंकि इन्द्रियों का समूह बड़ा बलवान् होता है, वह विद्वानों को भी अपनी ओर खींच ले जाता है।

एकः शयीत सर्वत्र, न रेतस्स्कन्दयेत्क्वचित्।
कामाद्धिस्कन्दयन् रेतो, हिनस्ति व्रतमात्मानः॥

सर्वत्र अकेला सोवे। अपना वीर्य कभी कहीं स्खलित न होने दे। इच्छा से वीर्य का नाश करने से ब्रह्मचारी का व्रत नष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त भी ब्रह्मचारी के लिए बहुत-से वर्जित कर्म हैं:—

गुरु की आज्ञा बिना बैठना, उनके सामने उच्चासन पर बैठे रहना, उनके परोक्ष में आदरयुक्त नाम लिये बग़ैर उनका परिचय देना, उनकी निन्दा सुनना, उनके दोषों को कहना, उनसे दूर रहना, स्त्रियों के समागम में बैठना, युवती गुरु-पत्नी के चरण छूकर प्रणाम करना, शृंगार करना तथा अध्ययन में आलस्य करना आदि वर्जित हैं

काम क्रोधौ तथा लोभं, स्वादुश्रृंगार कौतुके।
अति निद्राति सेवे च, विद्यर्थी ह्यष्ट वर्जयेत्॥
(चाणक्य-नीतौ)

काम, क्रोध, स्वाद, श्रृङ्गार, कौतुक, अति निद्रा और अति सेवा—ये आठ कर्म विद्यार्थी के लिए वर्जित हैं।

सुखार्थी चेत्यजेद्विद्यां, विद्यार्थी चेत्यजेत्सुखम।
सुखार्थिनः कुतो विद्या, विद्यर्थिन· कुतः सुखं॥
(विदुरनीती)

सुख चाहने वाला विद्या को और विद्या का प्रेमी सुख को छोड दे। क्योंकि सुखार्थी को विद्या नहीं आती और विद्यर्थी को सुख नहीं मिलता।

आलस्यं मद मोहौ चे, चापल्यं गोष्ठिरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं, तथाऽत्यागित्वमेव च॥
(विदुरनीती)

आलस्य, मद, मोह, चपलता, व्यर्थ बातचीत करन, चुप रहना, अभिमान करना और स्वर्थी होना—विद्यार्थियों के ये सात अवगुण माने गये है।

ब्रह्मचारी के कर्तव्य-कर्म

"मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मिनिर्याचन् भूतात्पुरुषं यमाय।"

(अथर्ववेद)

मैं पाप-नाशक आचार्य का ब्रह्मचारी हूँ। मैं और लोगों से भी प्रार्थना करता हूँ कि वे दूसरे को भी (नवीन जीवन धारण करने के लिए) उसके पास भेजें।

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः।"

(मनुस्मृति)

आचार्य परमेश्वर का रूप है।

ब्रह्मचर्य के पालन में वर्जित कर्मों के छोड देने से व्रत की रक्षा होती है। सदाचार के नियमों के पालन से अकर्तव्यों का नाश हो सकता है। ब्रह्मचारी एक प्रकार का तपस्वी है। जिन कर्तव्यों से उसके जीवन में उत्साह, ज्ञान में वृद्धि और संसार में ख्याति होती है, उन्हींका विधान शास्त्रकारों ने किया है।

नीचे ब्रह्मचारी के धर्मशास्त्र-सम्मत कर्तव्य-कर्म दिये जाते है जिनके आचर्ण से वह अपना ब्रह्मचर्य दृढ़ बना सकता है और संयमी रह सकता है।

यद्यस्य विहितं चर्म, यत्सूत्रं या च मेखला।
यो दण्डो यश्च वसनं, तत्तदस्य व्रतेष्वपि॥

उपनयन के समय जैसा मृगचर्म, यज्ञोपवीत, मेखला, दण्ड और वस्त्र धारण कराया गया हो, उसी अवस्था में सदैव रहना चाहिए।

सेवेतेमांस्तु नियमान्, ब्रह्मचारी गुरौवसन्,
सन्नियमेन्द्रियग्रामं, तपो वृद्ध्यर्थ मात्मनः ॥

ब्रह्मचारी अपनी इन्द्रियों को वश में रखकर गुरु के समीप बतलाये गये कर्मों को व्रत की उन्नति के लिए करता रहे।

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृ तर्पणम्।
देवताभ्यर्चनंचैव, समिदाधान मेव च ॥

सदैव स्नान करके पवित्रता से देव, ऋषि और पितरों का तर्पण तथा देव-पूजन और अग्निहोत्र करता रहे।

उदकुम्भं सुमनसो, गोशकृन्मृत्तिका कुशान्।
आहरेद्यावदर्थानि, भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥

जल का घड़ा, फूल, गोबर और कुश जिस वस्तु की जितनी आवश्यकता हो, उतनी ही लावे। और निरन्तर भिक्षा मांगने जाया करे।

दूरादाहृत्य समिधः, सन्निदध्याद्विहायसि।
सायं प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥

दूर से समिधा (होम की लकड़ी) लाकर उत्तम स्थान पर धरे और उससे आलस्य-रहित होकर सायं और प्रातःकाल अग्निहोत्र करे।

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी, द्विज शुक्रमकामतः।
स्नात्वार्कमर्चयित्वात्रिः, पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥

यदि बिना इच्छा के स्वप्न में वीर्य गिर जाय तो स्नान कर सूर्य भगवान् की पूजा के पश्चात् "पुनर्मामित्विन्द्रियम्" नामक ऋचा का जप करे।

शरीरंचैव वाचंच, बुद्धीन्द्रिय मनासिच।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥

शरीर, वाणी, बुद्धि, इन्द्रिय और मन को अधिकार में करके नम्रता-पूर्वक गुरु के सन्मुख रहा करे।

कुर्यादध्ययनंचव, ब्रह्मचारी यथा विधिः।
विधिं त्यक्त्वा प्रकुर्वाणो, न स्वाध्याय फलं लभेत् ॥

ब्रह्मचारी को चाहिए कि नियम के साथ अध्ययन किया करे। क्योंकि बिना नियम के पढ़ने से उसका कुछ फल नहीं मिलता।

अग्नीन्धनं भैक्ष्चर्यामधः शय्यांगुरोर्हितम्।
आसमावर्त्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥

यज्ञोपवीत किया हुआ ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने तक यज्ञ की समिधा और भिक्षा लाने में, पृथ्वी पर सोने तथा गुरु का हित करने में, लगा रहे।

इन ऊपर कही गई बातों के अतिरिक्त और भी ब्रह्मचारी के कई कर्त्तव्य-कर्म इस प्रकार हैः—

सूर्योदय से पहले उठ जाना, नित्य नियम से अध्ययन करना, पढ़ने के आदि और अन्त में गुरु को प्रणाम करना, सहपाठियों से प्रेम रखना, आचरण से गुरु को प्रसन्न रखना, अतिथियों का सत्कार करना, अवस्था में बड़े लोगों की, पहले माता-पितादि की सेवा करना, अभिवादन करना, अपने ब्रह्मचर्य का ध्यान रखना तथा साधुता और सरलता युक्त रहना ही कर्त्तव्य है।

आचार्य के कर्त्तव्य

"आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः।"

(अथर्ववेद)

आचार्य शिष्य के लिए पापनाशक, शान्तिदाता, जीवनसुधारक, रोग-निवारक और ज्ञान का उपदेशक होता है।

"कुशिष्यमध्यापयतः कुतो यशः।"

अयोग्य शिष्य को ज्ञानोपदेश करने से आचार्य को कैसे यश प्राप्त हो सकता है!

प्राचीन समय से इस देश में आचार्य का बड़ा महत्व माना गया है। गुरुकुल का अधिष्ठाता होने के अतिरिक्त वह संसार का सुधारक है। मनुष्य-जाति के पतन और उत्थान का उत्तरदायित्व आचार्य पर है। बालक के लिए आचार्य से बढ़कर कोई हितैषी होता ही नहीं ऐसे पुरुष के लिए भी शास्त्रों में कर्त्तव्य निर्धारित किये गये हैं। उनका सारांश यहाँ पर दिया जाता है:—

१—आचार्य को स्वयं ब्रह्मचारी होना चाहिए।

२—उसे सब छात्रों पर समदृष्टि रखना योग्य है।

३—ब्रह्मचारियों के स्वास्थ्य और सदाचार पर पूर्ण रूप से ध्यान रक्खे।

४—अपने छात्रों से अधिकार के बाहर काम न ले।

५—नियमित तिथियों से अधिक अनध्याय (छुट्टी) की आज्ञा न दे।

६—विद्यार्थी की उन्नति-कामना के लिए निरन्तर उद्योग करता रहे।

७—आचार्य-पुत्र, सेवक, ज्ञानदाता, धार्मिक, पवित्र, आस्तिक, बलवान्, धनदाता, सरल स्वभावी और स्वजातीय—ऐसे दस प्रकार के शिष्य को पढ़ाना कर्तव्य है।

८—जिस विषय में उसे सन्देह हो, उसे बिना समझे विद्यार्थी को न पढ़ावे।

९—अशान्त चित्त होने के समय कभी शिक्षा न दे।

१०—अग्निहोत्र और सन्ध्या-वन्दन में शिष्यों को भी साथ ले लिया करे।

११—ब्रह्मचारी को व्रत-पालन के लिए उत्साहित करता रहे।

१२—विद्यार्थियों के कार्य और भाषण से उनकी योग्यता की परीक्षा करते रहे।

१३—आचार्य को लोभी, क्रोधी, विषयी, असत्यभाषी, परनिन्दक असहिष्णु और द्वेषी न होना चाहिए।

१४—बिना प्रभाव और स्नेह के शिष्यों को विद्वान् नहीं बनाया जा सकता।

१५—ब्रह्मचारी को आज्ञाकारी बना लेना उसका प्रथम कर्त्तव्य है।

२०—अष्ट मैथुन-निषेध

"आयुर्वीर्यं यशश्चैव, हन्यतेऽब्रह्मचर्यया।"

मैथुन (अब्रह्मचर्य) से आयु वीर्य तथा यश की हानि होती है।

ब्रह्मचर्य जैसे महाव्रत का नाश करनेवाले दुरुपाय का नाम 'मैथुन' है। मैथुन उस साधन को कहते हैं, जिसके द्वारा किसी न किसी प्राकृतिक या अप्राकृतिक रूप से मनुष्य का वीर्य अपना स्थान छोड़ कर ज्ञात या अज्ञात अवस्था में बाहर निकल जाय। यही कारण है कि ब्रह्मचारियों के लिए शास्त्रों में मैथुन का निषेध किया गया है।

स्मरणं कीर्त्तनं केलिः, प्रेक्षणं गुह्य भाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च, क्रिया निष्पत्तिरेवच॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्ग, प्रवदन्तिमनोषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्य मेतदेवाष्टलक्षणम्॥

(दक्ष-संहिता)

स्मरण, कीर्तन, केलि, अवलोकन, गुप्त भाषण, सङ्कल्प, अध्यवसाय और क्रिया-निवृत्ति—ये मैथुन के आठ अङ्ग विद्वानों द्वारा निर्धारित किये गये है।

इन आठ लक्षणों से परे रहना 'सिद्ध ब्रह्मचर्य' कहलाता है।

१—स्मरण—प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष देखी या सुनी हुई स्त्रियों के रूप-लावण्य का ध्यान करना।

२—कीर्त्तन—स्त्रियों के गुण, स्वरूप और सुख की कथा कहना, या तत्सम्बन्धी गान गाना

३—केलि—स्त्रियों के साथ नाना प्रकार के खेल—जैसे, फाग आदि खेलना।

४—प्रेक्षण—किसी स्त्री को काम-दृष्टि से बार-बार देखना और सङ्केत करना।

५—गुह्य भाषण—स्त्रियों के पास जाकर गुप्तरूप से भोगेच्छा प्रकट करने वाली बातें करना।

६—सङ्कल्प—स्त्रियों को देखकर या उनके चरित्र सुनकर उनके पाने की धारणा मनमे लाना।

७—अध्यवसाय—स्त्रियों के सहवास में आनन्द का अनुमान कर उसे पाने के लिए प्रयत्न करना।

८—क्रिया-निवृत्ति—स्त्रियों के मोह-जाल में फँसकर उनसे सम्भोग करना।

ये आठ प्रकार के मैथुन एक दूसरे से भयंकर हैं। इनमे प्रत्येक मैथुन का अन्तिम परिणाम वीर्य-नाश होता है। इन मैथुनों के प्रभाव से वीर्य के कण अपने स्थान से च्युत होकर अण्डकोष मे पहुँच जाते है, जो अवसर पाकर अवश्य बाहर हो जाते है। इसलिए ब्रह्मचारी को चाहिए कि इन आठ प्रकार के मैथुनों से ब्रह्मचर्य की रक्षा करता रहे।

वेदाध्ययन–विचार

"तस्माद्वेदव्रतानीह, चरेत्स्वाध्याय सिद्धये।"

(हारीतस्मृति)

ब्रह्मचारी को चाहिए कि अपने अध्ययन की सिद्धि पाने के लिए वेद में कहे गये नियमों का पालन करें।

"सदाधार पृथिवीं दिवञ्चास आचार्यं तपसा पिपर्ति।"

(अथर्ववेद)

ब्रह्मचारी भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान को धारण करता है; वह अपने इस तप से आचार्य की प्रसन्नता का कारण होता है।

ब्रह्मचर्याश्रम और वेदाध्ययन का बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है। गुरुकुल में भेजने का अभिप्राय ही यह है कि बालक वेद की शिक्षा प्राप्त करे। सुबोध आचार्य को संरक्षता में वेदों के जानने का विधान शास्त्रकारों ने किया है। ब्रह्मचारी होने का प्रधान उद्देश्य वेदारम्भ माना गया है।

वेदों मे मनुष्य-जाति को सुख देने वाली सब प्रकार को विद्यायें भरी हुई है। इस भूमण्डल में वैदिक साहित्य सब से श्रेष्ठ और प्राचीन माना गया है। जो वेदों का ज्ञान प्राप्त करले, उसे विशेष ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहजाती। उसके लिए सब सुलभ हो जाता है। हमारे ऋषि-मुनि लोग इन्हीं वेदों के बल पर देश तथा धर्म की रक्षा और उद्धार करते थे

गुरुकुलों में आचार्य, वेद तथा उसका परिचय कराने वाले

वेदाङ्गों का परिचय करा देता था। जैसे सूर्य का प्रकाश धारण कर चन्द्रमा प्रकाशित होता है, वैसे ही शिष्य भी अपने गुरु से ज्ञानार्जन कर कुल और जाति को आनन्दित करता है। वास्तव में वेदाध्ययन का प्रयोजन यही है कि गृहस्थाश्रम सुखमय बने।

षट् त्रिंशदाब्दिकं चर्यं, गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वा, ग्रहणान्तिक मेव वा॥

गुरुकुल में ब्रह्मचर्य से रहकर ३६ वर्ष में तीनों वेदों (ऋग्, यजु और साम) को पढ़े। अर्थात् १२ वर्षों तक एक वेद की शाखा का विधान है। १८ वर्षों में या ६ वर्षों में भी तीनों वेद पढ़े जा सकते है। अर्थात् ६ या ३ वर्षों मे एक वेद की शाखा को समाप्त करे।

वेदानधीत्य वेदौ वा, वेदं वापि यथा क्रमम्।
अविप्लुतो ब्रह्मचर्यो, गृहस्थाश्रममावसेत्॥

तीन, दो या एक वेद विधि-पूर्वक पढ़कर अखण्डित ब्रह्मचर्य से गृहस्थाश्रम में पैर रक्खे।

३६ वर्षों मे वेद पढ़ना उत्तम, १८ वर्षों में मध्यम और ६ वर्षों में अधम माना गया है। ब्रह्मचर्यावस्था में ३, २ या १ वेद तो अवश्य पढ़ लेना चाहिए।

ब्रह्मचारी-भेद

"ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः। स देवानां भवत्येकमङ्गम् ॥"

(ऋग्वेद)

ब्रह्मचारी उत्तम कर्मों के साथ अपने व्रत का पालन करता है। अतएव वह देवों का एक अंग बन जाता है।

"ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति।"

(अथर्ववेद)

ब्रह्मचारी अपनो विद्या, तत्परता, परिश्रम-शीलता और सहिष्णुता से संसार का उपकार करता है।

गुरुकुल के वास-भेद से ब्रह्मचर्य के दो प्रकार होते हैं। उप-कुर्वाण, और नैष्ठिक। इसलिए ब्रह्मचारी भी दो प्रकार के ठहरे।

उपकुर्वाण की अवस्था एक नियमित काल तक रहती है। उसीकी समाप्ति हो जाने पर गृहस्थाश्रम में पदार्पण किया जा सकता है। ब्रह्मचर्य-पालन, गुरु-सेवा, विद्याध्ययन के पश्चात् गुरुदक्षिणा देने तक, वह ब्रह्मचारी उपकुर्वाण कहलाता है।

"अविप्लुत ब्रह्मचर्यो, गृहस्थाश्रममावसेत्।"

(मनु)

अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन कर लेने पर गृहस्थाश्रम में वास करे।

नीचे उपकुर्वाण ब्रह्मचारी के शास्त्रोक्त कर्त्तव्य कर्म दिये जाते है। इनके पालन से वह अपने महाव्रत मे सिद्धि पा सकता है:—

१—गुरु की आज्ञा का पालन तथा उसको सेवा करता रहे।

२—मन लगा कर विद्याध्ययन करने में सावधान रहे।

३—भिक्षा माँग कर सात्त्विक प्रकार से अपना जीवन निर्वाह करे।

४—ब्रह्मचय-रक्षा के लिए सदैव उपाय करता रहे।

५—अपनी उन्नति का सर्वदा मनन और चिन्तन किया करे।

जो ब्रह्मचारी अपने व्रत के महत्व को समझ लेता है, जिसका मन वेदाध्ययन से संयमित बन जाता है, जिसकी इच्छा प्रकृति के अनुराग में लग जाती है, ज्ञान देने के कारण गुरु ही जिसका सर्वस्व हो जाता है और संसार से जिसे वैराग्य हो जाता है वह जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचारी रहता है। उसीको नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते है। उसके लिए यह आज्ञा है:—

"न विवाहो न संन्यासो, नैष्ठिकस्य विधीयते।"

(हरीत)

नैष्ठिक ब्रह्मक्षारी के लिए न तो विवाह और न संन्यास का विधान है।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य-कर्मों ये इनके पालन से उसका जन्म सार्थक होता है :—

१—गुरु के सत्सङ्ग में ब्रह्मचर्य-पूर्वक विद्याध्ययन करता रहे।

२—गुरु के न रहने पर उसके विद्वान् पुत्रों के समागम में आध्यात्मिक विचार करता रहे।

३—गुरु-पुत्रों के अभाव में उसकी पत्नी का पालन-पोषण धर्म-युक्त करता रहे।

४—यदि गुरु-पत्नी भी न हो, तो गुरुकुल-वासियों के साथ रहे।

५—सबके अभाव में यज्ञानुष्ठान करता रहे।

गुरु-दक्षिणा प्रकरण

"आचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ।
तद्ब्रह्मचारी प्रायच्छत्सान् मित्रो अध्यात्मनः॥"

(अथर्ववेद)

आचार्य वरुण (सुखदायक) बनकर जनता के हितार्थ जो दक्षिणा माँगता है, ब्रह्मचारी उसे अपने आत्मबल से मित्र (सहायक) होकर देता है।

"गुरु शुश्रूषया त्वेव, ब्रह्मलोकं समश्नुते।"

(मनुस्मृति)

गुरु की सेवा से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।

गुरुकुल में विद्याध्ययन के समाप्त हो जाने पर विद्यार्थी को घर जाने की आज्ञा मिलती है। उस समय वह अपने गुरु को सन्तुष्ट रखने के लिए, उसकी इच्छा के अनुकूल जो कुछ प्रदान करता है, उसको 'गुरु-दक्षिणा' कहते हैं। इस दक्षिणा का बड़ा महत्व है प्रायः अनेक ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है।

प्राचीन समय में गुरु-दक्षिणा शिष्टाचार का एक अंग था। गुरु के उपकार के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिए ब्रह्मचारी उससे गुरु-दक्षिणा लेने की प्रार्थना करता था। गुरु भी उसकी विनय

शीलता और आज्ञा-पालन से प्रसन्न होकर उसे जनता के उपकार का आदेश देता था। यही उसकी दक्षिणा थी। और पहले के आचार्यों को किसी प्रकार की इच्छा या आवश्यकता नहीं रहती थी। गुरु की जो आज्ञा होती थी, उसे पालन करने की ब्रह्मचारी प्रतिज्ञा करता था, और उसका आशीर्वाद प्राप्त-कर संसार में प्रवेश करता था।

शंकराचार्य के गुरु कुमारिल भट्ट ने अवैदिक-धर्म के खण्डन और सनातन-धर्म के मण्डन की दक्षिणा माँगो थी, जिसे शंकराचार्य ने जीवन भर पालन कर दिखलाया। स्वामी दयानन्द के आचार्य विराजानन्द ने उन्हे जनता में वेद तथा सत्य-धर्म के प्रचार का आदेश किया था, जिसे उन्होंने पालन कर दिखलाया।

गुरु-दक्षिणा ब्रह्मचारी के लिए एक अन्तिम कर्तव्य माना गया है। धम शास्त्र के अनुसार गुरु-दक्षिणा के नियम भी देते है :—

न पूर्व गुरुवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित् ।
स्नास्य स्तु गुरुणाज्ञप्तः, शक्त्यागुर्वर्थमाहरेत् ॥

ब्रह्मचर्यावस्था में धर्म का जाननेवाला गुरु को कुछ भी न दे; पर ब्रह्मचर्य का पालन कर स्नातक हो जाने पर वह जो आज्ञा दे, यथा-शक्ति उसे वह दक्षिणा दे।

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं, छत्रोपानहमासनम् ।
धान्यं शाकंच वासांसि, गुरुवे प्रीतिमावहेत् ॥

पृथिवी, सोना, गाय, अश्व, छाता, जूता, आसन, धान्य, शाक और वस्त्र—जो कुछ दे सके, गुरु की प्रसन्नता के लिए अर्पित करे।

जो ब्रह्मचारी ज्ञान प्राप्त कर लेने पर अपने आचार्य को उसकी

माँगी हुई वस्तु देकर प्रसन्न करता है, उसकी विद्या मे वृद्धि होती है, और उसीसे जन-समाज का कल्याण-साधन हो सकता है।

समावर्त्तन-संस्कार

"सस्नातो बभ्रुः पिंगलः पृथिव्यां बहु रोचते ।"

(अथर्ववेद)

ब्रह्मचारी विद्या पढ़ लेने पर स्नातक होता है। इस प्रकार अत्यन्त तेजस्वी होकर संसार में सम्मान पाता है।

"राजस्नातकयोश्चैव, स्नातको नृपमान भाक् ।"

राजा और स्नातक दोनों में राजा की अपेक्षा स्नातक विशेप मान्य है।

"गुरवे दक्षिणां दद्यात्संयमी ग्राममावसेत् ।"

(हारीत-स्मृति)

वेदाध्ययन समाप्त होने पर गुरु को दक्षिणा देकर जितेन्द्रियता से ग्राम में निवास करे।

उपनयन-संस्कार से ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारम्भ और समावर्त्तन-संस्कार से उसकी समाप्ति होती है। उपनीत होकर ब्रह्मचारी गुरुकुल में प्रविष्ट होता है, और स्नातक होकर उससे बाहर निकता है। इस संस्कार में ब्रह्मचारी को तीर्थों के जल से स्नान कराया जाता है और तबसे उसको 'स्नातक' कहा जाता है।

ब्रह्मचारी यो विद्या-व्रत-स्नातः।"

(छान्दोग्योपनिषद्)

ब्रह्मचारी है,जिसने विद्याव्रत रूपी तीर्थों के जल में स्नान किया हो।

इस संस्कार के समय गुरु को यथा-शक्ति दक्षिणा दी जाती है, और गुरु उस ब्रह्मचारी को आयुर्बल, यशःप्रसार, ज्ञानगौरव और धन-धान्य का आशीर्वाद देता है।

इस संस्कार से ब्रह्मचारी अपने आचार्य के संरक्षण से पृथक् होता है। अधिक समय एक साथ रहने से दोनों में अत्यन्त अभिन्नता हो जाती है। अतएव मोह के बन्धन को तोड़ कर आचार्य उसे गृहस्थाश्रम में जाने और अपना कर्त्तव्य पालन करने का उपदेश इस समय देता है :—

१—प्रमाद में पड़कर ब्रह्मचर्य-व्रत का दुरुपयोग न करना।

२—अपनी विद्या और बल से लोक-सेवा में सदा लगे रहना।

३—पञ्चमहायज्ञ में कभी भ्रान्ति से असावधानी न करना।

४—माता-पिता तथा कुटुम्ब के भरण-पोषण को अपने हाथ में लेना।

५—सुप्रजा उत्पन्न करने के लिए विधि-पूर्वक विवाह करना।

६—सदाचारी और उत्तम पुरुषों का सङ्ग करना।

७—धर्म तथा धन का सञ्चय करते रहना।

८—अधर्ममूलक व्यवसाय में कभी न पड़ना।

९—क्रोध, मोह, लोभ, भोग और दर्प से दूर रहना।

१०—गृहस्थाश्रम को नियत समय तक सुखमय बनाते रहना।

विवाह-विधान

"ब्रह्मचर्यं समाप्याय, गृहधर्मं समाचरेत्।"

ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त कर गृहस्थ-धर्म का पालन करना योग्य है।

"उद्वहेत द्विजोभार्यां, सवर्णांलक्षणान्विताम्।"

(मनुस्मृति)

स्नातक को चाहिए कि सवर्णा और सुलक्षणा कन्या से विवाह करे।

ब्रह्मचारी वीर्य-रक्षण सहित ज्ञानार्जन कर लेने पर, गुरु की आज्ञा से, स्नातक होकर घर आता है। उस अवस्था में उसके पिता या उसके समान अधिकारी उसका सत्कार करते हैं। उसके बाद उसके विवाह का समय आता है। वह पहले अपने समान गुणशील वाली कन्या को पसंद करता है। उसके बाद वह अपने सम्बन्धियों के साथ कन्या के पिता के यहाँ पहुंचता है। कन्या-पक्ष उसका द्वार-पूजन (स्वागत) करता है, तदन्तर 'जनवास' दिया जाता है। विवाह के निश्चित समय पर वर विवाह-मण्डप में जाता है। कन्या का पिता उसका 'मधुपर्क' अर्थात् उत्तम पदार्थों से सत्कार कर उसे बैठाता है। फिर अग्निदेव का स्थापन कर, वधू का पाणि-ग्रहण करके वह इस प्रकार कहता है:

मैं तुझे अपनी पत्नी बनाता हूँ। तू उत्तम सन्तान वाली हो। मेरे साथ तुझे दीर्घ-जीवन प्राप्त हो। अर्यमादि देवों ने गृहस्थाश्रम के लिए

तुझे प्रदान किया है। तेरी शुभ दृष्टि हो—तुझसे पति का हित हो, पशुओं का कल्याण हो; तू मनोहर हृदय और नेत्र वाली हो। तेरे पुत्र जीवित और पुरुषार्थी हों। तुझसे सबको सुख प्राप्त हो।

फिर वधू से हवन कराता है और वह पति के दीर्घजीवन एवं सम्बन्धियों के सुख की प्रार्थना करती है। तदन्तर 'सप्तपदी' होती है। इसमें वर वधू को सात बार फेरी करता है, और उससे अपने अनुकूल रहने की प्रतिज्ञा कराता है। इसी समय से दोनों पति-पत्नी (दम्पति) बन जाते हैं। पश्चात् कन्या का पिता भी वर से निम्नलिखित प्रतिज्ञा कराता है :—

यस्त्वया धर्मश्चरितव्यः सोऽनयासह।
धर्मे चार्थे च कामे च, नाति चरितव्या॥

जो कुछ सत्कर्म करना हो, इस (कन्या) की सहकारिता से करना—धर्म, अर्थ और काम में इसके विरुद्ध आचरण न करना।

इसपर वर भी उसकी बातों को बलपूर्वक इस प्रकार स्वीकार करता है:—

नातिचरामि, नातिचरामि, नातिचरामि।"

मैं कभी इसके विरुद्ध आचरण नहीं करूँगा, नहीं करूँगा, नहीं करूँगा।

गृहस्थ ब्रह्मचर्य

"ऋतुकालाभिगमनं, ब्रह्मचर्यमिवोच्यते।

ऋतु काल में स्त्री-प्रसंग करना भी ब्रह्मचर्य के बराबर माना जाता है। विवाह-सम्बन्ध में महात्मा गान्धी कहते हैं:—

"विवाह स्वेच्छाचार के लिए नहीं है। स्मृतियों में भी लिखा है कि दम्पति-नियम से रहते हुए, दम्पती ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं।"

विवाह मानवी सृष्टि चलाने के लिए एक धर्मिक तथा स्वाभाविक कर्त्तव्य है। इसका विधिवत् पालन करने से गृहस्थाश्रम सुख और शान्ति का देनेवाला होता है। इसके विरुद्ध जाने से दम्पती का जीवन अत्यन्त दुःखकारक बन जाता है। विवाह का विधान बहुत प्राचीन तथा शास्त्रोय है। इसके उद्देश्य के सम्बन्ध मे मनु महाराज यह आज्ञा देते हैं:—

"ऋणत्रय विमुत्यर्थं, धर्मेणोत्पादयोत्प्रजा।"

तीनों ऋणों (देव, ऋषि तथा पितृ) के बन्धन से छूटने के लिए धर्म-पूर्वक प्रजा का उत्पादन करे।

"सन्तानार्थञ्च मैथुनम्।"

केवल सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही मैथुन का विधान है।

जो पुरुष नियत समय पर सन्तान की अभिलाषा से स्त्री का समागम करता है, वह भी ब्रह्मचारी है। 'एकनारी ब्रह्मचारी' ऐसी कहावत है। पर एक नारी रहने पर भी मनुष्य व्यभिचारी हो सकता

है। शास्त्र की आज्ञा है:—

"ऋतौभार्यामुपेयात्।"

ऋतुकाल में भार्या का सेवन धर्म है। इसका अभिप्राय यह है कि रजोदर्शन के पश्चात् स्त्रियाँ गर्भ धारण कर सकती हैं। अन्य समय में केवल वीर्य-नाश होता है। इसलिए बाल-हत्या का महा पातक लगता है। मनु भगवान् एक जगह लिखते है कि ऋतुकाल की वर्जित रात्रियों को छोड़ कर स्त्री-सहवास करनेवाला पुरुष जिस किसी आश्रम में हो, ब्रह्मचारी ही है।

इस वचन से भी गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्य का पालन करना योग्य है। स्त्री-समागम के पश्चात् गर्भ के लक्षणों का ज्ञान हो जाने पर, सन्तानोत्पत्ति के तीन वर्ष पश्चात् पुनः गर्भाधान करने की शास्त्र आज्ञा देता है। फिर भी अयोग्य पुरुष और अयोग्य स्त्री को तो मैथुन की आज्ञा ही नहीं है। शास्त्रों में कहे गये नियमों के अनुकूल गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्य के पालन से मनुष्य की शारीरिक तथा मनसिक किसी प्रकार की हानि नहीं होती। गृहस्थ ब्रह्मचारी भी विद्वान, श्रीमन् और कीर्तिमान् हो सकता है।

है। इसीसे मनुस्मृति में लिखा है कि ब्रह्माजी ने प्रारम्भ में अपने शरीर के दो टुकड़े किये; एक भाग से पुरुष और दूसरे से स्त्री की रचना की।

वैदिक काल स्त्रियों के लिए सुवर्ण-युग था। उस समय ये आजकल की भाँति हीन नहीं थीं। बहुत से उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि स्त्री-जाति के अधिकार बहुत ही न्याय-संगत थे। उस समय ये वैदिक संस्कारों की अधिकारिणी थीं। यही कारण था कि घोषा, सूर्या, विश्ववरा, तथा इन्द्राणी आदि जैसी विदुषी देवियाँ मन्त्रों की दर्शिका हुईं। उनका उल्लेख आज भी मन्त्रों के साथ मिलता है।

अर्धं भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य, भार्या मूलं तरिष्यतः॥

पत्नी पुरुष की अर्धाङ्गिनी होती है। वह मनुष्य का सर्वोत्तम मित्र है। वह त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का कारण है तथा मोक्ष का भी साधन है।

भार्यावन्तः क्रियावन्तः; सभार्याः क्रियमेधिनः।
भार्यावन्तः प्रमोदन्ते, भार्यावन्तः श्रियान्विताः॥

स्त्रीवाले क्रियावान् हैं। स्त्रीवाले गृहस्थ हैं। भार्यावाले प्रसन्न रहते हैं और स्त्री-युक्त ही धनवान् हैं।

सखायः प्रविविक्तेषु, भवन्त्येताः प्रियंवदाः।
पितरो धर्मकार्येषु, भवन्त्यार्त्तस्य मातरः॥

स्त्रियाँ एकान्त में मित्र, धर्म-कार्य में पितर और दुरवस्था मे माता की भाँति प्रसन्नता, सहायता एवं सेवा करती है।

स्त्रियान्तु रोचमानायां, सर्वंतद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥

स्त्री की प्रसन्नता में सबकी प्रसन्नता है। यदि वह घर में अप्रसन्न हो, तो कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते, सर्वास्तत्रा फलाः क्रियाः ॥

जहाँ स्त्रियों का आदर होता है वहाँ देवगण निवास करते हैं। और जहाँ इनका निरादर होता है, वहाँ सारे कार्य निष्फल हो जाते है।

शोचन्ति जामयो यत्र, विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैताः, वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥

जिन घरों में स्त्रियाँ कष्ट पाती हैं, वे शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। और जिस कुल में ये सुख पाती हैं, वे सदैव उन्नति करते हैं।

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता, भर्त्रा भार्या तथैवच ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं, कल्याणं तत्र वे ध्रुवम् ॥

जिस कुल में पत्नी से पति सन्तुष्ट रहता है और पति से पत्नी सदैव प्रसन्न रहती है, उस कुल का कल्याण होना निश्चित है।

मूर्खा यत्र न पूज्यन्ते, धान्यं यत्र सुसञ्चितम् ।
दाम्पत्य कलहो नास्ति, तत्र श्रीः स्वयमागता ॥

जिस घर में मूर्खों का आदर नहीं होता, जहाँ अन्न सञ्चित रहता है और जहाँ पति-पत्नी में कलह नहीं रहता, वहाँ लक्ष्मी स्वयं आती है!

पृथिव्या यानि तीर्थानि, सतीपादेषु तान्यपि ।
ततश्च सर्वदेवानां, मुनीनाञ्च सतीषु च ॥
सतीना पादरजसा, सद्यः पूता वसुन्धरा ।
पतिव्रता नमस्कृत्य, मुच्यते पातकान्नर ॥

संसार मे जितने तीर्थ है, सब सती स्त्रियों के चरणों मे है; सब देवताओं और मुनीयों का तेज पतिव्रताओं मे होता है। सती स्त्रियों की चरण-धूलि से तत्काल पृथ्वी पवित्र हो जाती है। पतीव्रताओं की वन्दना करके मनुष्य पातक से छूट जाता है।

आदर्श माता

"नास्ति मातृसमो गुरुः।"

माता के समान बालक का संसार मे दूसरा गुरु नहीं।

यह बात बहुत सत्य है कि जैसी माता होती है, वैसी ही उसकी सन्तान भी होती है। प्रत्येक सन्तान पर उसकी माता के भले-बुरे गुणों का अवश्य प्रभाव पड़ता है। इस का समर्थन सुश्रुत और वीरभट्ट जैसे ऋृषि-प्रणीत वैद्यक शास्त्रों में किया गया है। धर्माचार्य मनु माता के सम्बन्ध में लिखते है:—

उपाध्यायानन्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रन्तु पितृन्माता, गौरवेणाति रिच्यते ॥

१० उपाध्याय के बराबर १ आचार्य, १०० आचार्य के बराबर १ पिता और १००० पिता के बराबर माता गौरव में बड़ी है।

बालक-बालिकाओं पर उपाध्याय, आचार्य और पिता का उतना प्रभाव कदापि नहीं पड़ता, जितना कि माता का प्रभाव पड़ता है। एक सुशिक्षिता माता अपनी सन्तान को थोड़े ही दिनों में सब गुणों से सम्पन्न कर देती है।

माता का पद वास्तव में बड़े महत्व और उत्तरदायित्व का है। यदि माता अयोग्य हुई तो सन्तान किसो काम की नहीं हो सकती। सन्तान के लिए माता की योग्यता की परम आवश्यकता होती है।

आजकल की दशा बड़ी विचित्र है। सामाजिक अवनति के कारण प्रायः अयोग्य बालिकायें माता-पद पर सुशोभित हो रही हैं। जब वे स्वयं ही संसार का कुछ अनुभव नहीं रखतीं, तब भला वे अपनी सन्तान का उचित प्रकार से लालन-पालन कर सकेंगी? ऐसी अवस्था में गुणहीन, कुरूप, निर्बल, और निस्तेज सन्तान निकले, तो फिर आश्चर्य ही क्या है?

महाभारत में युधिष्ठिर-मार्कण्डेय-संवाद है। उसमें युधिष्ठर के पूछने पर मार्कण्डेयजी ने इस प्रकार माता का महत्व बतलाया है:—

मातृस्तु गौरवादन्ये, पितृनन्ये तु मेनिरे।
दुष्करं कुरुते माता, विवर्धयति या प्रजाः॥

किसी का मत है कि माता बड़ी है, और किसी के विचार में पिता बड़ा है। पर मैं कहता हूँ कि माता ही बड़ी है। क्योंकि वह सन्तान को पाल-पोस कर बड़ा करने का कठिन कार्य करती है।

आजतक जितने शूरवीर, विद्वान, कीर्तिमान तेजस्वी और

प्रतापी पुरुष हुए है, वे सब अपनी सदाचारिणी, पतिव्रता तथा सुयोग्य माता के द्वारा ही हुए है।

माता के लिए ब्रह्मचारिणी होना अत्यन्त आवश्यक है। व्यभिचारिणी होने से सन्तान भी वैसी ही उत्पन्न होती है। माता के आचरण का गर्भस्थ बालक पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। शुकदेव तथा अभिमन्यु जैसे परम ज्ञानी एवं अद्वितीय वीर बालकों को माता के गर्भ मे ही आत्मज्ञान एवं शस्त्र-सञ्चालन की शिक्षा मिली थी। गर्भ-धारण करते ही माता को ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी सब नियमों का पालन करना चाहिए। ब्रह्मचारिणी, सुशीला एवं विदुषी स्त्रियों की सन्तान भी उसकी भाँति सब गुणों में दक्ष होती है।

ब्रह्मचर्य-युक्त गर्भाधान

"इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभागां कृणु।"

(ऋग्वेद)

हे वीर्य से परम ऐश्वर्यवान् पुरुष। तू इस पत्नी को उत्तम पुत्रों वाली और सौभाग्यवाली बना।

"प्रजानार्थं स्त्रियः सृष्टाः, सन्तानार्थं च मानवम्।"

(मनुस्मृति)

गर्भ धारण करने के लिए स्त्रियाँ और गर्भाधान करने के लिए पुरुषों की रचना हुई है।

प्रायः सभी महर्षियों ने स्त्रियों का उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति माना है। यह कार्य वास्तव मे बड़े महत्व और दायित्व का है। यही कारण है कि गर्भाधान की गणना सोलह संस्कारों मे की गई है। शास्त्रकारों का मत है कि गर्भाधान ब्रह्मचर्य-युक्त होना चाहिए। पर आजकल इसपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया जाता। यही कारण है कि उत्तम पुत्र-पुत्रियों का अभाव हो रहा है। अयोग्य माता-पिता की सन्तान कैसे अच्छी हो सकती है? जिस अवस्था में इस कार्य का विधान है, उसकी कोई चिन्ता ही नहीं है।

गर्भाधान के लिए अवस्था भी नियत की गई है। १६ वर्ष से पहले स्त्री को गर्भ-धारण न करना चाहिए, और २५ वर्ष से पहले पुरुष को गर्भाधान करना मना है। इस नियम के विपरीत चलने से जो-जो हानियाँ होती है, वे इस प्रकार वैद्यक ग्रन्थ मे वर्णित हैं:—

ऊन षोडश वर्षायाम्, प्राप्तः पंचविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥

यदि १६ वर्ष से कम आयुवाली स्त्री में २५ वर्ष से न्यून वय वाला पुरुष गर्भाधान करे, तो वह गर्भ उदर मे ही विपत्ति को प्राप्त होता है।

जातो वा न चिरञ्जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्त बालायां, गर्भाधानं न कारयेत्॥

(शुश्रुत-संहिता)

यदि उस गर्भ से सन्तान उत्पन्न भी हुई, तो वह जीती नहीं; यदि जीती है तो अत्यन्त दुर्बल अङ्गोंवाली होती है। इसलिए कम आयुवाली स्त्री में कभी गर्भाधान न करना चाहिए।

पूर्ण युवती स्त्री को चाहिए कि मासिक धर्म से शुद्ध होकर अपने स्वस्थ तथा युवक पति से एक बार समागम करे और गर्भ के लक्षण सूचित होने पर जबतक बालक उत्पन्न होकर दूध पीना न छोड़ दे तबतक पुरुष से सम्बन्ध न करे। अर्थात् २॥, ३ वर्षों के पश्चात पुनः गर्भाधान का समय आता है, और इस विधि से अधिक-से-अधिक १० पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्न कर लेने पर पुनःब्रह्मचर्य से रह कर सौ वर्ष तक जीना चाहिए। यही आज्ञा वेद में भी दी गई है। जो स्त्री-पुरुष इस वैदिक नियम का पालन करते हैं, वे सदैव स्वस्थ और नीरोग रहते हैं। उनका आयु-बल कदापि क्षीण नहीं होता और वे एक बार के सम्भोग से ही गर्भाधान कर सकते हैं। इस बात का उदाहरण हमारे पूर्वज ऋषियों का इतिहास है।

प्रत्येक स्त्री को पृथ्वी के गुणों का अनुकरण करना चाहिए। तत्त्व के धारण, उत्पादन और पोषण की जो शक्ति पृथ्वी में है, वह स्त्री में भी है। जैसे वह संयम से रह कर बीज धारण करती है, और उसे अंकुर के रूप में प्रकट करती है, वैसे ही स्त्री को भी ब्रह्मचर्य का पालन कर गर्भ-धारण करके उससे सन्तान उत्पन्न करना चाहिए। जैसे वह उस अंकुर का पोषण कर उसे योग्य बना देती है, वैसे ही इसे भी अपनी सन्तान को पालकर योग्य बनाना चाहिए।

प्रत्येक पुरुष को मेघ के गुणों का अनुकरण करना चाहिए। उत्पादन-शक्ति जो उसमें है, वह इसमें भी है। जैसे मेघ उचित समय पर पृथ्वी को जल से सींचता है, उसी प्रकार पुरुष को भी नियम से गर्भाधान करना योग्य है।

ब्रह्मचारिणी सरस्वती

"सरस्वती वाङ् महती महीयताम् ।"

सरस्वती विद्या की महती देवी है, जिसकी महिमा अपार है।

"वन्देतां परमेश्वरीं भगवतीं, बुद्धिप्रदां शारदाम् ।"

(स्तोत्र)

उस परमात्मस्वरूपा, ऐश्वर्यवती तथा बुद्धि-दायिनी शारदा को हम नमस्कार करते है।

सरस्वती का नाम संसार में बहुत ही विख्यात है। इन्हें लोग विद्या की देवी मानते हैं। इसी विचार से आज असंख्य लोग इनकी पूजा करते है।

जिन लोगों के हृदय में विद्वान् और ज्ञानवान् बनने की अभिलाषा रहती है, वे तो प्रायः निरन्तर इस बड़ी शक्ति की मन, वचन तथा कर्म से आराधना करते है। इन्हे सब देवियों में इतनी प्रतिष्ठा और महानता क्यों मिली ?

सरस्वती देवी विद्या की प्रधान प्रेरिका और रक्षिणी हैं। यह अधिकार इनको ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन और वेदाध्ययन से प्राप्त हुआ है। यह ब्रह्मा की पुत्री है। इन्होंने कभी अपना विवाह ही नहीं किया। इन्हे ज्ञान और विज्ञान से इतना प्रेम हो गया था कि यह जीवन-पर्यन्त अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करती रहीं। कई बार इनकी परीक्षा ली गई, पर यह तिल-भर भी अपने व्रत से नहीं डिगीं। इनके दीर्घ ब्रह्मचर्य और विद्याभ्यास से प्रसन्न होकर सब देव-मण्डली

इनको माता समझने लगी। इनके पिता ब्रह्मा ने इन्हें वेद की अधिष्ठात्री बनादी। तबसे आज तक यह उसी अवस्था में पूजित हो रही है। यह ब्रह्मचर्य और विद्याभ्यास से बहुत प्रसन्न रहती हैं। जो कन्या इनको प्रसन्न करना चाहती हो, वह अवश्य ब्रह्मचर्य से रह कर विद्याभ्यास मे लगी रहे।

वेदवती का अपूर्व ब्रह्मचर्य

"किन्नाप्नोति रमारूपा, ब्रह्मचर्य-तपस्विनी।"

ब्रह्मचर्य-तप की तपस्विनी लक्ष्मी-रूपिणी स्त्री को संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

प्राचीन समय मे अखण्ड ब्रह्मचर्य के प्रेमी न केवल पुरुष ही थे वरन् कई स्त्रियाँ भी ऐसी हुई है, जिन्होंने ब्रह्मचर्य के लिए, अपना जीवन समर्पित किया था। क्या पुरुप क्या स्त्री, जिस किसी को ब्रह्मचर्य का मधुर फल चखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वही इसपर मुग्ध हो गया है।

वेदवती नाम की एक ऋषि-कन्या थी, जो अत्यन्त सुन्दरी तथा सुशील थी। वह पूर्ण युवती हो गई थी, पर अभी उसका विवाह नहीं हुआ था। वह वन की एक पर्ण-कुटी मे रह कर निरन्तर तपस्याक रती थी। उसकी इच्छा भी विवाह करने की न थी। क्योंकि उसका मन ब्रह्मचर्य के पालन से बहुत शुद्ध और दृढ़ हो गया था।

एक दिन की बात है कि राक्षसों का राजा रावण उसी मार्ग से आ निकला। उसकी दृष्टि वेदवती पर पड़ी। वह उसे देखते ही मोहित हो गया। उसने नाना प्रकार के प्रलोभनों में उसे फाँसना चाहा, पर उस ब्रह्मचारिणी का मन तिल भर भी न डिगा।

अन्त में रावण ने हार मान कर उसे बलात् भ्रष्ट करना चाहा। उसने उसके लम्बे काले-काले केशों को पकड़ कर खींचना प्रारम्भ किया। इसपर उस परम तेजस्विनी महिला ने रावण को इस प्रकार झटका दिया कि वह दूर जा गिरा। फिर वेदवती ने कहा—"रे दुष्ट पापात्मा! तूने मेरे केशों को छू लिया, इसलिए पर-पुरुष के छू जाने से मेरा ब्रह्मचर्य-व्रत खण्डित हो गया। अब मैं अपना कलुषित देह किसी प्रकार नहीं रख सकती। ले देख, मैं अभी इसका प्रायश्चित्त किये देती हूं!"

यह कह कर वह वहीं एक जलते हुए अग्नि-कुण्ड मे कूद पड़ी। अन्यायी रावण हाथ मल कर रह गया।

ब्रह्मचारिणी सीता

"सीता सर्वगुणोपेता, चार्या पतिपरायणा।"

(सूक्ति)

सीता सब गुणों से भूषित और श्रेष्ठ पति (राम) की सेवा करनेवाली थी।

जैसे श्रीराम एक पत्नी-व्रत गृहस्थ ब्रह्मचारी थे, वैसी ही सीता भी पतिपरायणा आदर्श पतिव्रता थी। रामायण भर मे सीता के चरित्र में कई प्रसङ्ग ऐसे आये हैं, जिनसे इनके मानसिक ब्रह्मचर्य अद्वितीय पति-प्रेम, सत्यनिष्ठा और धर्म-पालन आदि अनेक गुण प्रकट होते हैं।

जब श्रीराम वन जाने लगे तब उन्होंने उन के साथ चलने का प्रबल अनुरोध किया था। श्रीराम ने बहुत कुछ उपदेश दिया, पर पतिप्राणा सीता ने बड़ी नम्रता से उनका विरोध किया। सीताजी ने बड़े विनयशील और नीतियुक्त वचनों मे श्रीराम की बातों का उत्तर इस प्रकार दियाः—

तनु धन धाम धरणि पुरराजू।
पति विहीन सब शोक-समाजू॥
भोग-रोग सम भूषण भारू।
यम-यातना सरिस संसारू॥
प्राणनाथ। तुम बिन जगमाँहीं।
मो कहँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं॥

* *

जिय बिनु देह नदी बिन बारी।
वैसहि नाथ पुरुष बिन नारी॥

*   *

खग मृग परिजन नगर वन, वल्कल वसन दुकूल।
नाथ-साथ सुर-सदन सम, पर्णशाल सुख-मूल॥

*   *

पाँव पखार बैठि तरु-छाहीं।
करिहौं वायु मुदित मन माहीं॥

*   *

को प्रभु संग मोहिं चितवन हारा।
सिंह-बधुहिं जिमि शशक सियारा॥
मैं सुकुमारि नाथ बन योगू।
तुमहिं उचित तप मो कहँ भोगू॥

(तुल० रामा०)

ये बातें कहकर सीता राम के चरणों में गिरपड़ी। यह देखकर राम ने विचारा कि यदि मैं जानकी को यहीं छोड़ जाऊँगा तो यह जीती न रहेगी। अतः उन्होंने अपने साथ चलने की आज्ञा दे दी।

×   ×   ×

रावण के हर ले जाने पर लंका की अशोक-वाटिका मे तपस्विनी के वेप मे सीताजी कई महीनों तक पति के ध्यान में मग्न रहीं। पराये पुरुष की ओर देखना भी वह पाप समझती थीं।

उन्होने रावण को कैसा फटकारा:—

तृण धरि ओट कहति वैदेही।
सुमिरि अवध-पति परम सनेही॥

शठ ! सूने हरि आनेसि मोहीं ।
अधम निलज्ज लाज नहिं तोहीं ॥

* *

राक्षसों का संहार हो जाने पर विभीषण ने सीता को लाकर उपस्थित किया । राम के कहने से उनकी अग्नि-परीक्षा हुई, उन्होंने यह कह कर अग्नि में प्रवेश किया:—

जो मन क्रम वच मम उर माहीं ।
तजि रघुवीर आन गति नाहीं ॥
तौ कृशानु सबकी गति जाना ।
मो कहँ होउ श्रीखण्ड समाना ॥

और वह सबके सम्मुख निष्पापा और सच्चरित्रा सिद्ध हुईं । श्रीराम उन्हे लेकर अयोध्या लौटे ।

जब श्रीराम ने उन्हे गर्भवती की अवस्था में ही वन में निकाल दिया तो वह महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में रहने लगीं । वहीं उनके दो पुत्र भी हुए । अन्त में श्रीराम के सन्मुख पुनः जानकी की परीक्षा का समय आया । महर्षि ने भी पूर्ण रूप से उनकी निष्पापता और पतिनिष्ठा का परिचय दिया । उस समय सीता के मुख से जो वाक्य निकले, वे वास्तव में मनन करने ही योग्य है । उन्होंने कहा:—

यथाऽहंराघवादन्ये, मनसापि न चिन्तये ।
तथा मे माधवी देवि, विवरं दातुमर्हति ॥

हे पृथ्वीमाता ! यदि मैंने श्रीराम के अतिरिक्त किसी का ध्यान मन में भी न किया हो, तो तुम मुझे अपने पास स्थान दो।

उनकी इस बात से पृथ्वी एकाएक फटी और वह उसमें समा गई।

कितनी आत्म-शक्ति, निर्भीकता और सत्यप्रियता। उनके कथन से कितना साहस और पति-प्रेम टपकता है!

गृहस्थ ब्रह्मचारिणी देवहूती

"या नारी पतिभक्ता स्यात्सा सदा ब्रह्मचारिणी।"

(सूक्ति)

जो स्त्री केवल अपने पति से अनुराग रखती है, वह सर्वदा ब्रह्मचारिणी कहलाती है।

यह एक प्रश्न हो सकता है कि विवाह हो जाने के बाद स्त्रियाँ ब्रह्मचारिणी कैसे रह सकती है? पर यह बात भ्रममूलक है। गृहस्थाश्रम में भी रहकर स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते है। मनु आदि धर्माचार्यों का कहना है कि नियमित समय में सन्तान के लिए मैथुन करना ब्रह्मचर्य है। फिर ऐसी अवस्था में एक नियत समय तक गृहस्थी में धर्मयुक्त वीर्य के संरक्षण को क्यों न ब्रह्मचर्य कहा जाय? जो स्त्रियाँ केवल अपने पति से उचित समय पर संसार के हित की इच्छा से सहवास कर गर्भ धारण करती है, वे भी ब्रह्मचारिणी हैं। ऐसी स्त्रियों की सन्तान सर्वदा सद्गुणवाली होकर फलती-फूलती है।

पुराणों में महासती देवहूती की एक कथा आई है। यह प्रसिद्ध राजा स्वायंभुव मनु की पुत्री थीं। इनका विवाह कर्दम ऋषि से हुआ था। वह भी ज्ञान, विद्या, बुद्धि और धर्म में बड़े आदर्श पुरुष थे। देवहूती भी अत्यन्त सुशीला, परम विदुषी, धर्मपरायणा, सदाचारिणी एवं पतिव्रता स्त्री थी। इन्हीं के कारण इनकी तीन सन्तानें संसार में प्रसिद्ध हुईं। अरुन्धती और अनुसूया नामकी दो पुत्रीयाँ थीं, जिनमे पहली का विवाह महर्षि वशिष्ठ से और दूसरी का महामुनि अत्रि से हुआ था। एक पुत्र जिनका नाम कपिल मुनि था, तत्त्वज्ञान सांख्यशास्त्र के आचार्य हुए।

बहुत दिन तक गृहस्थाश्रम के सुखों का उपभोग कर लेने पर कर्दम ऋषि ने तपस्या करने के लिए देवहूती से आज्ञा मांगी। उस समय उस देवी ने अपने प्रिय पति को जाने की आज्ञा दे दी। तत्पश्चात् स्वयं ब्रह्मचर्य-पालन और ब्रह्मज्ञान के चिन्तन में अपना समय बिताने लगीं। वह अपने पुत्र के आध्यात्मिक विचारों को प्रश्न द्वारा प्रकट कर, उनसे शङ्का-समाधान कराती थीं। यह बात आज भी विख्यात है। यदि ऐसी आदर्श ब्रह्मचारिणी माता न होती, तो हमें एक महान् तत्त्ववेत्ता की प्राप्ति न होती।

वास्तव में जितेन्द्रिया, सत्यशीला, शुभ गुण-युक्ता, पति-प्रेमा, रोग-रहिता, दयावती, क्षमावती, सन्तान-वत्सला, सदाचारिणी, अध्ययनशीला, गृह-कर्म-कुशला एवं सर्व गुण-सम्पन्ना स्त्री ही आदर्श माता हो सकती है। ऐसी ही माता से देश, समाज, धर्म और जाति का यथेष्ट उपकार हो सकता है।

स्त्री-जाति का पतन

"सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसंगेभ्यः, स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः।"

साधारण से साधारण दोषों से भी स्त्रियों की रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिए।

किसी भी समाज के उत्थान और पतन का कारण विशेषकर उस देश का स्त्री-मण्डल होता है। समाज का अत्यन्त आवश्यक तथा सहायक अंग स्त्री-समुदाय माना गया है। यदि वह हीन हो जाय, तो समाज की दुर्गति निश्चित है।

हमारा भारतवर्ष क्यों उच्च दशा को प्राप्त था? हमारी हिन्दु-जाति किसके बल पर उन्नत हुई थी? यहाँ की सुशिक्षिता, पतिव्रता एवं आदर्श गुणवती स्त्रियों के कारण। पुरुष कभी भी उत्तम कार्य नहीं कर सकते, जबतक कि उनके घर में सच्ची साध्वी पत्नी न हो। इस सम्बन्ध में नीति-शास्त्र का एक श्लोक उद्धृत कर देना बहुत उचित जान पड़ता है:—

"यस्यास्ति भार्या पठिता सुशिक्षिता,
गृहक्रिया-कर्म-सुसाधने क्षमा॥
स्वजीविकां धर्म-धनार्जनं पुनः,
करोति निश्चिन्तमथो हि मानवः॥

जिसकी स्त्री पढ़ी-लिखी, सुशिक्षिता, गृह-कार्य तथा अन्य व्यवहारों में सुयोग्य होती है, वह पुरुष चिन्ता-रहित प्रसन्नमन होकर अपने धर्म तथा धन का उपार्जन कर सकता है।

काल के प्रभाव से अब स्त्रियों की प्राचीन मर्यादा का लोप हो रहा है। हिन्दू-जाति मे अब स्त्रियों की उतनी क़दर नहीं होती। उनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध बिगड़ गया है। अयोग्य स्त्रियों को गृहस्थी के गुरुतर भार सौंपे जाने लगे और परिणाम स्वरूप देश हीन अवस्था को पहुच रहा है। स्त्रियों के इसी सम्बन्ध का एक हिन्दी पद्य मे कैसा अच्छा चित्र खींचा है:—

सोचो ! नरों से नारियाँ किस बात में हैं कम हुई।
मध्यस्थ थीं शास्त्रार्थ में वे भारती के सम हुई॥
होती अनेकों रहीं गार्गी और मैत्रेयी जहाँ।
हैं अब अविद्या-मूर्ति-सी कुल-नारियाँ होती वहाँ॥

(भारत-भारती)

आज तक जितने सत्पुरुष उत्पन्न हुए हैं, वे सब सदाचारिणी माताओं के कारण ही हुए है।

जिस स्त्री-जाति ने शङ्कराचार्य और रामानुजाचार्य जैसे वेदान्ती, राणा प्रताप और शिवाजी जैसे शूरवीर, समर्थ रामदास, रामकृष्ण, सूरदास, कालिदास और तुलसीदास जैसे महात्मा और तिलक तथा गाँधी जैसे देशसेवक उत्पन्न किये, उसकी दुर्दशा किसे असह्य न जान पड़ेगी ?

स्त्री-जाति का सुधार ही राष्ट्रीय सुधार समझना चाहिए। जो जाति उन्नत होना चाहती है, वह स्त्रियों मे सद्‌गुणों का पहले प्रचार करे।

व्यभिचारिणी की दुर्दशा

"व्यर्थीकारेण शुक्रस्य, ब्रह्महत्यामवाप्नुयात् ।"

(निर्णय-सिन्धु)

वृथा वीर्य का नाश करने से ब्रह्म-हत्या का पाप लगता है ।

"रजोदर्शनतः पूर्वं, न स्त्री-संसर्गं माचरेत् ।"

(भविष्य-पुराण)

रजोदर्शन होने से पहले स्त्री से समागम नहीं करना चाहिए।

पुरुष-जाति में व्यभिचार बढ़ा ही है। स्त्रियों में भी इस के परिणामस्वरूप बढ़ा है। शास्त्रों के मत से अपने पति के साथ भी अनियमित मैथुन करना भी व्यभिचार है, और इससे भी पाप होता है। सती स्त्रियाँ वे ही है, जो नियत समय पर सन्तान की इच्छा से पति का समागम करती हैं। असमय में सम्भोग-रत होने से पुरुष के वीर्य और स्त्री के रज का नाश होता है। वीर्य और रज के अधीन जीवन है। इसलिए दोनों को जीव-हत्या का पातक होता है।

जो स्त्रियाँ बाल्यावस्था से ही विषय-वासना में लग जाती हैं वे कभी सुख नहीं पातीं।

स्त्रियों के दुराचारिणी होने से कुल, धर्म, जाति और देश का अधःपतन हो जाता है। जिस देश का नारी-समाज पतित होता है, वहाँ का पुरुष-समाज भी घृणित और अवनत हो जाता है। यद्यपि स्त्रियों को दूषित करने का लाञ्छन पुरुषों पर ही लगाया जा सकता है, तथापि अज्ञानता के कारण स्त्रियाँ भी अपने नाश का कारण बन रही है।

व्यभिचार तथा अतिमैथुन से स्त्रियाँ इन दुरवस्थाओं को प्राप्त होती हैं:—

१—व्यभिचार से स्त्रियों का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है।

२—युवावस्था में ही सब अंग शिथिल हो जाते हैं।

३—बुद्धिबल और गुणों का ह्रास होने लगता है।

४—गर्भ धारण करने की शक्ति नष्ट हो जाती है।

५—बहुतसी स्त्रियों के बालक नहीं होते, और होते भी हैं तो जीते नहीं।

६—राजयक्ष्मा, प्रदर, रक्तवात-विकार, संग्रहणी, शूल तथा अन्य प्राणनाशक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

७—हृदय में दुर्बलता, भोजन में अरुचि, भोग में आसक्ति, चित्त में अशान्ति तथा शयन में अनिद्रा हो जाती है।

८—क्रोध, अनुत्साह, अधैर्य-अविचार, अकार्य और लोभ वाला स्वभाव बन जाता है।

९—जीवन भाररूप और दुःखमय जान पड़ने लगता है।

१०—रोग पर रोग लगे रहते हैं, जिनसे असमय में ही मृत्यु हो जाती है।

आजकल स्त्रियाँ प्रायः इन दुर्दशाओं को भोग रही हैं। अतएव यदि वे अपने को इनसे बचाना चाहें, तो अपने पतियों को भी सदाचारी बनावें और स्वयं सदाचारिणी बनने का उद्योग करें। यदि स्त्रियाँ चाहें, तो यह कोई उनके लिए बहुत कठिन काम नहीं है। धीरे-धीरे अभ्यास से अपने दोषों को निश्चयपूर्वक वे दूर कर सकती हैं।

स्त्री-जाति पर विदेशी मत

इस शीर्षक में उन विदेशी विद्वानों के मत उद्धृत किये जाते हैं, जिन्होंने स्त्री-जाति के सम्बन्ध में बहुत विवेचना कर लेने पर ही अपने विचार प्रकट किये हैः—

साध्वी स्त्री संसार के सब ऐश्वर्य से बढ़ कर है। वह एक स्वर्गीय देवी है, जिसमें सम्पूर्ण दिव्य गुण निवास करते है।

(जरमी टेलर)

समाज के आचार को बनाना, गृह का प्रबन्ध करना तथा कोमलता, प्रेम और सहन-शीलता से जीवन की कठिन और विषम यात्रा को सरल और सुखद बनाना स्त्री का ही काम है।

(टामसन)

इस संसार में स्त्रियों का राज्य है। वही माताओं, पुत्रियों, और पत्नियों के रूप में इस जीवन के सङ्कुचित मार्ग को विस्तृत बनाती हैं।

(मांटगुमरी)

किसी देश की परम्परा और जाति-नियम कुछ भी हों, पर धर्म और सदाचार की निष्पत्ति स्त्रियों के हाथ में होती है।

ये देवियाँ हमारी पूजनीया हों या सहचरी नायिका हों या परिचारिका, इनका अखण्डनीय प्रभाव हमपर पड़ता है।

(मार्टिन)

वह कौनसा आकाश है, जहां स्त्री का प्रेम नहीं चढ़ता ? और वह कौनसा पाताल है, जहां वह नहीं उतरता ?

(कारलिटन)

स्त्री हमारे अविश्वास और कठोरता से सूखे हृदय को प्रफुल्लित कर देती है। इन्हीं देवियों के प्रताप से नरक भी स्वर्ग बन जाता है।

(लार्ड बाइरन)

मेरा जहाँ तक अनुभव है, मैं कह सकता हूँ कि सर्वत्र स्त्रियाँ कोमल-हृदया, दयाशीला, धर्म-परायणा और परोपकारिणी होती हैं। श्रद्धा, लज्जा, और दया—ये तीन सहेलियां तो कभी इनका साथ नहीं छोड़तीं।

(लियार्ड)

पुरुष को प्रसन्न रखने मे स्त्री की प्रसन्नता है। वह पुरुष की प्रसन्नता के लिए प्राणों को बलि तक दे सकती है।

(काउटी पटमोर)

संसार-वाटिका में सती स्त्री सब से सुन्दर सुमन है। उसकी कोमलता, उसकी सुगन्धि और रमणीयता—एक से एक बढ़कर मनोहर है।

(थैकरे)

स्त्री की सुन्दरता किस बात में है? परोपकार और निश्छल भक्ति में तथा सन्तोष और सहनशीलता में। ये गुण उसके लावण्य को चमकाते, तेज को बढ़ाते तथा उसे देवता बनाते हैं।

(मिलटन)

प्रसन्न मन और प्रसन्न वदन होना सहिष्णुता, सहानुभूति, बुद्धि की तीव्रता, स्मृति की प्रौढ़ता और दूसरे के मन को सहज मे खींच लेना—इन गुणों मे स्त्रियाँ अद्वितीय हैं।

(गजबोन)

देवियों के हृदय पर एक बार जो बात अङ्कित हो जाती है, उसका मिटना फिर बड़ा कठिन हो जाता है।

(थैकरे)

इस बात को अपने मस्तिष्क से निकाल दो कि तुम स्त्रियों से गौरवशाली हो। स्त्रियाँ तुम्हारी इच्छाओं और महत्वकांक्षाओं की सङ्गिनी हैं। वे तुम्हारे सुख-दुख में सहायता देती हैं।

(मैजिनी)

पञ्चम खण्ड

ब्रह्म-वन्दना

ॐ यथा मधु मधुकृतः सम्भरन्ति मधावधि ।
एवा मे अश्विना वर्च्च आत्मनि ध्रियताम् ॥

(अथर्ववेद)

जिस प्रकार से भ्रमर पुष्पों का रस लेकर मधु बनाता है और उसे मधु-चक्र में भरता है, उसी प्रकार हे सूर्य और चन्द्ररूपी परमात्मन् ! हमारे अन्तःकरण में भी तुम आत्म-तेज को प्रकाशित करो ।

शरीर का सार

"शुक्रायत्तं बलं पुंसः ।"

(वैद्यक)

वीर्य के अधीन मनुष्य का शारीरिक बल रहता है।

संसार के सभी पदार्थों में एक सार तत्त्व रहता है। उसके बल से ही वह सुरक्षित और मान्य होता है। सार तत्त्व के बिना किसी वस्तु की कभी स्थिति नहीं हो सकती। बड़े-बड़े वैज्ञानिकों का सिद्धान्त है कि एक भी पदार्थ सत्ता से हीन नहीं है। जबतक उसका अस्तित्व है, तबतक उसकी इस विशेष शक्ति का लोप नहीं हो सकता।

मनुष्य-शरीर मे भी एक सार तत्त्व है। उसीके रहने से वह अपना जीवन धारण कर सकता है। उसके बिना उसकी शारीरिक अवस्था एक क्षण भी नहीं चल सकती। इस सार तत्त्व को 'वीर्य' कहते हैं। जो लोग बुद्धिमान् हैं, वे यत्नपूर्वक इसे अनुपम 'रत्न' समझ कर इसकी रक्षा करते हैं।

कुछ तत्त्वज्ञानियों का कहना है कि जबतक शरीर में वीर्य की स्थिति रहती है, तब तक मनुष्य मर नहीं सकता। वीर्य का नाश ही जीवन का नाश है। मृतक होने की दशा में वीर्य का पूर्ण रूप से क्षय हो जाता है। इस मत का अभिप्राय यह है कि वीर्य शरीर का वह अस्तित्व है, जिसके बल पर वह अपना कार्य सम्पादित कर सकता है।

वैद्यक-शास्त्र के आचार्यों ने इस वीर्य पर बहुत उत्तम विचार किया है। उन्होंने भी इसको सार-पदार्थ माना है। प्रायः सबने इसकी रक्षा के लिए जोर दिया है।

वीर्य की रक्षा करने वालों का शरीर सुदृढ़, आत्मा सन्तुष्ट तथा मन प्रसन्न रहता है। वीर्यवान पुरुष ही इस संसार में स्वस्थ शरीर और निर्भय चित्त रह सकते है। अतः मनुष्य-जाति का कर्त्तव्य है कि शरीर-रक्षा और सदुद्देश्य की सिद्धि के लिए इस अमृत रूपी वीर्य का सञ्चय करे।

आहारस्य परं धाम, शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः।
क्षये यस्य बहुन् रोगान्मरणं वा नियच्छति ॥

(चरक-संहिता)

मनुष्य के भोजन का सबसे उत्कृष्ट अंश वीर्य है। अतएव यत्न-सहित उसको रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि वीर्य का क्षय होने से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं और इसका अन्तिम परिणाम मरण भी है।

वीर्य की उत्पति

शुक्रतेजो रेतसीच, बीज-वीर्यौन्द्रियाणि च।

(अमर-कोष)

मनुष्य-शरीर में रहने वाले सार-पदार्थ के इतने नाम हैंः—शुक्र, तेज, रेतस्, बीज, वीर्य और इन्द्रिय।

"वीर्यं सर्वार्थ साधकम् ।"

वीर्य सब प्रकार के अर्थों का साधने वाला है।

मनुष्य जो कुछ भोजन करता है, वह पहले पाकस्थली में जाकर सञ्चित होता है। आहार के पचने पर रसादि सात धातुयें क्रम से बनती है। आहार का अन्तिम और सर्वोत्तम परिणाम वीर्य है। यह अत्यन्त उपयोगी और जीवन तत्त्व वाला होता है। शरीर के लिए सातों धातुयें आवश्यक हैं।

रसाद्रक्तं ततो मांसं, मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदास्यास्थिस्ततो मज्जा, मज्जायाः शुक्रसम्भवः॥

(शुश्रुताचार्य)

भोजन के पचने पर रस, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से वीर्य उत्पन्न होता है।

इससे यह प्रकट है कि सप्तम धातु वीर्य है। यह मज्जा से उत्पन्न होता है। यही शरीर का जीवन और आधार है।

ओज और वीर्य

ओजोऽस्योजो मयि धेहि।"

(यजुर्वेद)

हे परमेश्वर! तुम ओज (जीवन-तत्त्व) हो। तुम मुझे वह प्रदान करो!

मनुष्य-शरीर जिस मूल शक्ति के कारण सजीव रहता है, उसका नाम वैद्यक-शास्त्रवालों ने 'ओज' रक्खा है। यह ओज देह की सम्पूर्ण धातुओं का सार और मानवी जीवन-शक्ति का आधार है। इसके बढ़ने से आयुर्बल की वृद्धि और घटने से क्षीणता आती है।

ओजस्तु तेजो धातूनां, शुक्रान्तानां परंस्मृतं।
यन्नशे नियतं नाशो, यस्मिंस्तिष्ठति जीवनम्॥

(वृद्ध वाग्भट)

ओज-रस से लेकर वीर्य-पर्यन्त धातुओं का तेज है, जिसके नष्ट होने पर कोई जीवित नहीं रह सकता। इसके रहने पर ही जीवन धारण किया जा सकता है।

"हृदयस्थमपि व्यापि, देहस्थिति निबन्धनम्।"

वह ओज प्रधानतया हृदय में रहता है, और वहीं से सब अङ्गों में पहुंचकर उनकी रक्षा करता है।

वैद्यक-शास्त्र में 'वीर्य' की उपधातु को 'ओज' माना गया है। पर कुछ आचार्यों के मत से यह सात धातुओं से पृथक् माना गया है।

ओजः सर्व शरीरस्थं, स्निग्धं शीतं स्थिरं सितम्।
सोमात्मकं शरीरस्य, बल पुष्टि करं मतम्॥

(योग-चिन्तामणि)

ओज का निवास सब शरीर भर में है। यह चिकना, शीतल, स्थिर, उज्ज्वल होता है। यह शरीर भर मे तेज फैलाने वाला और बल-पुष्टि का बढ़ाने वाला है।

वास्तव में उपर्युक्त ओज ही जीवन-तत्त्व है। यह वीर्य की अधिकता से बढ़ता और न्यूनता से घटता है। इसके अधीन शारीरिक और मानसिक समस्त शक्तियाँ मर्यादित होती हैं। ब्रह्मचर्य का पालन करने से ओज का नाश नहीं होता। ब्रह्मचारियों का ही शरीर ओज से परिपूर्ण रहता है, और वे हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर, सहिष्णु, बली, विद्वान, विनम्र एवं श्रीमान् देखे जाते हैं। उनकी आयु भी सौ वर्षों से कम की नहीं होती। व्यभिचारी पुरुष क्षणिक सुख मे पड़ कर अपने वीर्य का नाश कर देते हैं, और उसके साथ अपने को भी खोकर निस्तेज, निर्धन, निर्बल, कुरूप और निर्बुद्धि होकर अपमृत्यु से थोड़े ही दिनों में मारे जाते हैं।

वीर्य पर वैज्ञानिक दृष्टि

"अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः।"

(तैत्तिरोयोपनिषत्)

अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष उत्पन्न होता है।

"शुक्रायत्तञ्च जीवितम्।"

(अ. गी.)

मनुष्य का जीवन उसके वीर्य के अधीन है।

पाश्चात्य देशवासी इस समय आविष्कार करने में भारतीयों से बहुत बढ़े-चढ़े हैं। उनके आविष्कार संसार में विशेष गौरव पा रहे हैं। जहाँ उन्होंने अनेक आविष्कार किये, वहाँ भला शरीर जैसे

भौतिक पदार्थ के विषय में अन्वेषण न करते, तो कैसे बनता! उन्होंने यह बात सिद्ध की है कि मानव-शरीर में असंख्य जीव हैं। वीर्य, रक्त और मल में भी अगणित जीवाणु होते हैं। इन्हीं जीवाणुओं की शक्ति से शक्ति, वृद्धता से वृद्धता और मृत्यु से मृत्यु होती है। एक बिन्दु वीर्य में भी कोट्याधिक जीवाणु होते हैं। वीर्य-पात से शरीर के जीवाणुओं का नाश होता जाता है, जिससे मनुष्य शीघ्र मरता है। यदि ब्रह्मचर्य से वीर्य की रक्षा की जाय, तो ये ही जीवाणु शरीर को बलशाली, कान्तिमान और दीर्घायु बनाने का काम करते हैं।

वैज्ञानिकों ने भी ब्रह्मचर्य को महत्व दिया है। उनका मत है कि जीवाणुमय वीर्य के संरक्षण से ही मनुष्य स्वस्थ और सुखी रह सकता है। व्यभिचारी पुरुष प्रायः अस्वस्थ और दुखी देखे जाते हैं। इसका कारण यही है कि वे अपने वीर्य का नाश कर इस अवस्था को पहुँचते है।

जीवो वसति सर्वस्मिन्देहे तत्र विशेषतः।
वीर्यें रक्ते मले यस्मिन् क्षीणेयाति क्षयं क्षणात्।

(वैद्यक)

जीव देह में सब स्थानों में रहता है, पर वीर्य, रक्त और बल मे विशेप रूप से बसता है, जिसके नष्ट होने से क्षण भर में मनुष्य का नाश हो जाता है।

वीर्य के पकने का काल

धातौ रसदौ मज्जान्ते, प्रत्येकं क्रमतो रसः ।
अहो रात्रात्स्वयं पंच, सार्धं दण्डंच तिष्ठति ॥
(महामान्य भोज)

रस से लेकर मज्जा तक प्रत्येक धातु पाँच रात-दिन और डेढ़ घड़ी तक अपनी अवस्था में रहती है। तदन्तर वीर्य बनता है। अर्थात् ३० दिन-रात और ९ घड़ी मे रस से वीर्य की उत्पत्ति होती है।

सभी चिकित्सों का मत है कि एक मास के पश्चात् पुरुष-शरीर मे वीर्य तथा स्त्री-शरीर में रज उत्पन्न होता है।

प्राचीन आयुर्वेदाचार्य शुश्रुत के मत से भी वीर्य एक मास के पश्चात् बनता है:—

"एवं मासेन रसः शुक्रो भवति पुंसां स्त्रीणांचार्तव मिति।"
(शुश्रुत-सहिता)

इस प्रकार एक महीने में (छः धातुओं को पुष्ट करता हुआ) यह रस पुरुष के शरीर में वीर्य और स्त्री के शरीर में रज बन जाता है।

३० दिन के उपरान्त और ४० दिन के पूर्व अन्तिम धातु—वीर्य का बनना सर्व-सम्मत है।

अब यह प्रश्न उठता है कि यदि एक मास तक वीर्य नहीं बनता तो इससे पहले सम्भोग करने से बाहर क्यों निकलता है? इसका

उत्तर यह है कि वीर्य का तो कभी शरीर में अभाव नहीं रहता। प्रत्येक मनुष्य सदा भोजन करता है। जो-कुछ आहार किया जाता है, उससे सदैव रसादि सातों धातुयें क्रम से बनती रहती है। सातों धातुओं की सात प्रकार की क्रियायें निरंतर होती हैं। इस नियम से वीर्य भी सदा बनता है। और एक मास के पश्चात् मनुष्य का वीर्य और स्त्री का रज सर्वाङ्गों को पुष्ट करता हुआ उचित अवस्था को पहुँच जाता है।

एक मास से पहले मैथुन का निषेध इसी लिए किया गया कि इससे पहले वीर्य के बाहर निकलने से सब धातुओं में क्षीणता आजाती है। धातुओं में क्षीणता आजाने से शरीर के सब अवयव निर्बल हो जाते है, और रोगों की उत्पत्ति होती है।

एक मास के पश्चात् वीर्य का पकना अत्यन्त स्वाभाविक है। इसका प्रमाण यह है कि स्त्रियों का ऋतु-काल भी एक मास के पश्चात् ही आता है।

साधारणतया पुरुषों के वीर्य के पकने में एक मास का समय लगता है, पर इस निश्चित समय के कुछ पहले और पीछे भी ऐसा होता है, इसका प्रधान कारण शारीरिक बल है।

बलवान् मनुष्य के शरीर में आहार की रसादि क्रियायें शीघ्रता से होती रहती हैं। इसलिए उसका वीर्य भी कुछ पहले ही पक जाता है, पर दुर्बल मनुष्य का वीर्य और भी अधिक दिन-में पकता है। इसका कारण यह है कि उसके शरीर में आहार की रसादि क्रियायें देर में होती है। यही बात स्त्रियों के रज के सम्बन्ध में भी पूर्ण रीति से घटती है।

एक मास के पश्चात् उत्पन्न होने वाले वीर्य तथा रज के कुछ सद्गुण नीचे लिखे जाते हैं—

१—एक मास के पश्चात् जो वीर्य का रज उत्पन्न होता है, वह अत्यन्त जीवनी-शक्ति से भरा हुआ होता है।

२—ऐसे अमूल्य वीर्य तथा रज को अनावश्यक रूप से शरीर से पृथक् न करना ही उत्तम है।

३—ऐसे वीर्य रज से कान्ति, आयु, शक्ति, बुद्धि, क्षमा, सहिष्णुता, प्रीति, तेजस्विता तथा विनय-शीलता की वृद्धि होती है।

४—एक वर्ष के ब्रह्मचर्य से शरीर में अपरिमित वीर्य हो जाता है, जिससे मनुष्य सब कुछ कर सकता है।

वीर्य का स्थान और परिमाण

शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं, बलपुष्टिकरं स्मृतम्।
गर्भबीजं वपुः सारो, जीवस्याश्रय मुत्तमम्॥

(वैद्यक-शास्त्र)

शुक्र (वीर्य) जीवनी शक्ति का बढ़ानेवाला, श्वेत,-वर्ण, चिकना बल तथा पुष्टिकारक होता है। यह गर्भ का बीज, शरीर का सार-रूप तथा जीव का प्रधान आश्रय होता है।

यथा पयसि सर्पिस्तु, गूढ़श्चेक्षौ रसो यथा।
एवं हि सकले काये, शुक्रं तिष्ठति देहिनाम्॥

(वैद्यक)

जैसे दूध में घी और ईख मे रस गुप्त रूप से रहता है, उसी प्रकार प्राणियों के शरीर भर में वीर्य भी रहता है।

वास्तव मे मनुष्य-शरीर में वीर्य के लिए कोई नियत स्थान नहीं है। यह सर्वाङ्ग में व्याप्त है। जिस अन्न से वीर्य की सत्ता उठ जाती है, वह शून्य हो जाता है। यदि वीर्य एक स्थान पर रहनेवाला पदार्थ होता, तो इसके संरक्षण या नाश का भला-बुरा प्रभाव सब अङ्गों पर क्यों पड़ता ?

पृथक् स्वप्रसृतं प्रोक्तमोजोमस्तिष्करेतसाम्।
द्वावञ्जली तु स्तन्यस्य, चत्वारो रजसस्त्रियाः॥

(वृद्ध वाग्भट्ट)

ओज, मस्तिष्क और वीर्य का पुरुष के अपने एक पसर (चुल्लू) के बराबर होता है। और स्त्रियों के दूध का परिमाण दो अँजुली तथा रज का चार अँजुली है।

ऊपर दिया हुआ वीर्य और रज का परिमाण स्वस्थ पुरुष और स्त्रियों का समझना चाहिए। अस्वस्थ पुरुष और स्त्रियों मे रज का परिमाण इतना नहीं हो सकता।

कुछ लोगों का मत है कि ४० कवर आहार से १ बिन्दु रक्त और ४० बिन्दु रक्त से एक बिन्दु वीर्य उत्पन्न होता है।

कुछ वैज्ञानिकों का अनुमान है कि १ तोला वीर्य के लिए १ सेर रक्त और १ सेर रक्त के लिए १ मन आहार की आवश्यकता होती है।

सम्भोग से वीर्य-स्खलन

कृत्स्न देहस्थितं शुक्रं, प्रसन्न मनसस्तथा।
स्त्रीषुव्यायच्छतश्चापि, हर्षात्तत्सम्प्रवर्तते॥
(वैद्यक)

समस्त शरीर में रहने वाला वीर्य, प्रसन्न, चित्तवाले पुरुष के स्त्री-सहवास से एकत्र होकर बाहर निकल जाता है। इसका कारण एक प्रकार का इन्द्रिय-सम्बन्धो आनन्द (उद्रेक) है। यही बात स्त्रियों के सम्बन्ध में भी घटती है। पुरुष के शारीरिक सम्बन्ध होने से उनका भी धातुपात होता है।

वैद्यक-शास्त्र में लिखा है कि कामदेव के वेग से पुरुष और स्त्री के सम्भोग के कारण सारे शरीर में रहनेवाला वीर्य, भीतरी अग्नि और वायु की प्रेरणा से एकत्र हो जाता है। वही हर्ष के उत्पन्न होने से अन्त में बाहर हो जाता है। जैसे दही के मथते रहने से घी के कण इकट्ठे हा जाते हैं। और बिलौने से एकमें मिलकर बाहर आ जाते हैं, उसी प्रकार संघर्षण के कारण सब अङ्ग मे रहनेवाला वीर्य भी एकत्र होकर निकल जाता है।

द्वयंगुले दक्षिणे पार्श्वे, वास्तिद्वारस्य चाप्यधः।
मूत्रस्रोतः पथे शुक्रं, पुरुषस्य प्रवर्तते॥

दाहिने पंसवाड़े से दो अंगुल वस्ति-द्वार के नीचे, मुत्र के स्रोत के मार्ग से मनुष्य् का वीर्य निकलता है।

स्त्रियों का भी पुरुष के साथ सहवास से वीर्य-पात होता है, अन्यथा नहीं।

वृद्धता से पहले लोग मरते नहीं थे। जिसके राज्य में कोई बालक या युवा मर जाता था, वह राजा अधर्मी समझा जाता था। श्रीराम के राजत्व मे एक ब्राह्मण का जवान पुत्र मर गया, सो उस ब्राह्मण को बड़ा आश्चर्य हुआ था। उस समय की और आज की परिस्थिति मे आकाश पाताल का अन्तर हो गया है। सौ में एकाध पुरुप ही अपनी वृद्धता को प्राप्त कर सकते हैं। शेप निन्यानवे लोग बाल्य और युवावस्था में ही इस संसार से चल बसते है।

इस दुःखमयी वार्ता का प्रधान कारण ब्रह्मचर्य का अभाव है। जब तक इस देश में ब्रह्मचर्य का सुधार तथा प्रचार नहीं होता, तब तक इसका रुकना सम्भव नहीं।

मनुष्य-शरीर की तीन अवस्थायें मानी गई है। बाल्य, यौवन और वृद्धावस्था। इसलिए इस समय से पहले मरना पाप का कारण समझना चाहिए। अपने वीर्य की रक्षा करने वाला पुरुष इससे पहले कभी मर नहीं सकता।

शरीर के सम्बन्ध में विशेष अनुभव की बात कहनेवाला ग्रन्थ आयुर्वेद माना जाता है। उसकी भी सम्मति है कि मनुष्य का जीवन उसके शारीरिक-गठन पर निर्भर करता है। आयुविज्ञान के प्राचीन आचार्यों ने बहुत-कुछ इस सम्बन्ध मे अनुसन्धान किया है। उनकी बातें कभी झूठी नहीं हो सकतीं।

पर आज तो अवस्था उसके विपरीत है। दिन पर दिन ब्रह्मचर्य का लोप होरहा है। विलासिता और व्यभिचार के कारण मनुष्य-जाति अपने ईश्वर-दत्त दीर्घ जीवनरूप अधिकारों को खोरही है और

वह इतनी पतित होती जा रही है कि अपना आयुर्बल रहते हुए भी अकाल मृत्यु के मुख में पड़ रही है। अतः यदि मानव-जाति पुनः अपना उत्थान करना चाहती है, वह अपने आयुर्बल की प्राचीन वैद्यक कथितोक्त मर्यादा बाँधना चाहती है तो ब्रह्मचर्य की प्रणाली के प्रचार और विधिवत् सुधार में देर न लगावे।

आयु-बल का कारण

हृदयं चेतनास्थान मोजसश्चाश्रयं मतम्।
शरीर प्राणयोरेवं, संयोगादायुरुच्येत्॥

(शार्ङ्गधर-संहिता)

हृदय चेतनता का स्थान और ओज का आश्रय-दाता है। इस प्रकार शरीर और प्राण के संयोग का नाम 'आयु' है।

मनुष्य-शरीर में हृदय एक बहुत ही उत्तम तथा आवश्यक पदार्थ है। महर्षियों का मत है कि गर्भ मे भी पहले-पहल इसका प्रादुर्भाव होता है।

चेतन तथा ओज का भी यही स्थान है। यहीं से रक्त का सञ्चालन और शुद्धीकरण होता है। प्राणों का भी इससे घनिष्ट सम्बन्ध है। जिस हृदय का हम इस प्रकार वर्णन कर रहे हैं, वही आयु का भी कारण है। जिसका हृदय निर्बल हो जाता है, वह बहुत कम दिनों तक जीता है। इसलिए हृदय की पुष्टता आयु के लिए विशेष आवश्यक है। हृदय के पुष्ट रखने के लिए कुछ प्रधान बातें ये है:—

(१) वीर्य-रक्षा से ही हृदय पुष्ट तथा कार्यकारी बन सकता है।

(२) प्राणायाम से वीर्य-रक्षा हो सकती है और हृदय स्वस्थ रह सकता है।

(३) व्यायाम से हृदय की शक्ति बढ़ती रहती है।

(४) उत्तम आहार से वीर्य बनता है और हृदय बलवान् होता है।

(५) नीरोग रहने से हृदय कभी क्षीण नहीं होता।

ऊपर लिखी हुई बातों से हृदय बलिष्ठ और हर्षित रहता है। और यही हृदय आयु का कारण है। इसलिए जो लोग आयु के इच्छुक हों, वे अपने हृदय की रक्षा करते रहें। ऐसे कार्य न करें, जिससे कि उनका हृदय निर्बल हो जाय।

वीर्य-क्षय से राजरोग

"नष्टे शुक्रे सर्वे रोगा भवन्ति।"

(सूक्ति)

वीर्य के अभाव मे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं।

यह बात बहुत सत्य है कि जिसके शरीर मे वीर्य की कमी हो जाती है, उसके शरीर मे नाना प्रकार के रोग घर कर लेते है। वीर्य-नाश से जिन महा रोगों की उत्पत्ति होती है, हम उनमे से कुछ प्रधान रोगों का यहाँ संक्षिप्त रूप से वर्णन कर देन उचित है:—

प्रमेह

जब मनुष्य का वीर्य बिगड़कर स्वयं शरीर से किसी न किसी रूप में बाहर निकलने लगता है, तब उसे प्रमेह कहते है।

यह अत्यन्त भयङ्कर और भारत-व्यापी रोग है। वैद्यक-शास्त्र में दोषों के भेद से यह २० प्रकार का माना गया है। इसकी अन्तिम अवस्था में प्राणों का नाश हो जाता है। इसके उत्पन्न होने के म्निलिखिय कारण बतलाये गये हैः—

अधिक वीर्य नष्ट करने से—कुसमय मे सम्भोग करने से—प्रकृति-विरुद्ध कार्य करने से, नया पान, गुड़, दही, दूध, तेल, मिर्च और खटाई आदि अधिक खाने से, विशेष मछली-मांस के सेवन से तथा कफ-वर्द्धक पदार्थों के खाने से प्रमेह रोग उत्पन्न होता है। सब प्रकार के प्रमेह चिरस्थायी नहीं होते, पर वीर्य-क्षय से जो उत्पन्न होता है, वही हानिकारक होता है।

आजकल प्रायः ६५ सैकड़े लोग इस प्राण-विनाशक रोग के हाथ में पड़े हुये है। बहुत से लोग ऊपर से देखने मे बड़े हृष्ट-पुष्ट दीखते है, पर भीतर ही भीतर उनसे प्रमेह बढ़ता रहता है। पहले तो इसका लोगों को ज्ञान नहीं होता, पर जब यह प्रबल हो जाता है, तब लोगों को इसकी चिन्ता व्यापती है। यदि अच्छे चिकित्सक से काम पडा और उसके कहने के अनुकूल संयम किया गया, तब तो कुछ आशा होती है, नहीं तो मरकर ही मनुष्य की इससे मुक्ति होती है।

प्रमेह में सर्वाङ्ग का वीर्य मूत्र के साथ अनिच्छापूर्वक बाहर निकलने लगता है। जब यह अधिक बढ़ जाता है, उस अवस्था में सब धातु इसी के साथ गल-गलकर शरीर के बाहर हो जाती है। वह मनुष्य निस्तेज, दुर्बल, पीला, अज्ञानी, उन्मादी और चिड़चिड़ा हो जाता है। उसे भोजन नहीं पचता, दस्त ठीक नहीं होता—निद्र

अच्छी तरह से नहीं आती और मस्तिष्क मे सार्य-सायॅ शब्द होते रहते है। प्रमेही पुरुप मरण मे बढकर कष्ट सहता हुआ थोड़े ही दिनों में काल का ग्रास बनता है।

क्षय या यक्ष्मा

इसमे शरीर के सारे दोप प्रकुप्त होकर नष्ट होने लगते है और हृदय और फेफड़े असमर्थ हो जाते है। इसीको 'क्षय' कहते है। क्षय या यक्ष्मा भी प्रमेह की भांति बड़ा भयानक संक्रामक रोग है। अनेक नवयुवक इसके कारण अपने प्राणों को असमय मे खो बैठते है।

इसके प्रारम्भ होने के भी कई कारण है, पर सर्व-प्रधान कारण वीर्य-नाश ही है। जो पुरुप बाल्यावस्था से ही विपय-वासनाओं मे फसकर, अपनी आन्तरिक धातुओं को दुर्बल कर डालते है, वे कदापि इससे नहीं बच सकते।

यौवनावस्था मे मरनेवाले पुरुप प्रायः इसी रोग से ग्रस्त होते है। बहुत-सी युवती स्त्रियाँ भी इस रोग से मरती हैं। अनियमित रूप से वीर्य का क्षय करने से हृदय और फेफडों में रक्त के सञ्चालन और शोधन की शक्ति नहीं रह जाती। वीर्यादि सात धातुओं के बनने की क्रिया नष्ट हो जाती है। दिन पर दिन विकार बढ़ता जाता है। मन्दाग्नि, अरुचि, संग्रहणी और वात-व्याधि आदि रोग भी इसके कारण उत्पन्न हो जाते हैं। मनुष्य सर्वाङ्ग से क्षीण होकर एक दिन अकाल मृत्यु से मारा जाता है।

इस रोग के प्रारम्भ में व य-रक्षा का कडा नियम है। इस क्रिया

से उस क्षयी मनुष्य का जीवन कुछ बढ़ जाता है। यदि इतने पर भी इन्द्रिय-लोलुपता न छूटी तो वह मनुष्य और भी पहले निष्प्राण होकर, अपने कुलवालों को शोक मे छोड़ जाता है।

स्वप्न-दोष

"नास्ति जागरितो भयम् ॥"

(चाणक्य नीति)

जागृत रहनेवाले पुरुष को किसी प्रकार का भय नही रहता।

रोगों मे 'स्वप्न-दोष' भी अत्यन्त भयङ्कर रोग है। जिसे एक बार लग जाता है, उसके प्राणों पर आ बनती है। इसकी भी अन्तिम अवस्था मृत्यु होती है।

स्वप्न-दोष से मुख की प्रसन्नता जाती रहती है—बुद्धि नष्ट हो जाती है—हृदय में दुर्बलता आ जाती है—चित्त में हर समय उदासीनता रहती है और कहीं भी शान्ति नहीं मिलती। मेरुदण्ड तथा सिर में पीड़ा अधिक होती रहती है। स्मरण-शक्ति घट जाती है और अनेक शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते है।

रात मे सो जाने पर जो दृश्य दिखलाई देता है, वह मनुष्य को सत्य जान पड़ता है। इसीसे वह उसमें लिप्त हो जाता है। कभी ऐसा जान पड़ता है कि एक युवती स्त्री आई और उससे जाकर सम्भोग करने लगता है। फिर क्या, क्षणमात्र मे उसका वीर्य शरीर से बाहर हो जाता है और निद्रा टूट जाती है। इस प्रकार वीर्य-क्षय का नाम

स्वप्न-दोष है। स्वप्न-दोष में वास्तविक स्त्री-प्रसङ्ग से कहीं अधिक वीर्य-पात होता है। स्वप्न-दोपी पुरुष कुछ दिनों में अशक्त और हतवीर्य हो जाता है। इसके उत्पन्न होने के निम्नलिखित कारण है:—

शरीर मे अधिक शीतोष्णता के बढ़ने से—विशेष चिकने पदार्थ खाने से—अत्यन्त परिश्रम, चिन्ता और शोक से—उतान होकर सोने से—काम सम्बन्धी विचार कर सोने से तथा अस्वाभाविक या स्वाभाविक रीति से वीर्य-नाश करने से यह विकार उत्पन्न होता है।

प्रारम्भ में इसे साधारण रोग समझ कर लोग छोड़ देते है। जब प्रबल हो जाता है, तब किसी प्रकार नहीं रुक सकता। अन्त में शारीरिक तथा मानसिक समस्त शक्तियों को नष्ट कर प्राणों का घातक बन जाता है।

नपुंसकता

"वीर्यवाहि शिराधारौ, वृषणौ पौरुषा वहौ।"

(शार्ङ्गधर-संहिता)

वीर्य-वाहिनी शिराओं के आधार अण्डकोष होते है, और ये ही पुंसत्व के देनेवाले है।

वैद्यक-शास्त्र में कई प्रकार के नपुंसकों का वर्णन है, पर जिस नपुंसक का यहाँ वर्णन करते है,—वह और भी विचित्र होता है। जो लोग दैवी प्रकोप से नपुंसक होते हैं, उन्हे तो कुछ कहना ही नहीं, पर यह नपुंसक अपने पुंसत्व को कुकर्मो-द्वारा खोकर होता है।

भारतवर्ष में इस 'नपुंसकता' का रोग दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। इसकी चिकित्सा भी नहीं होती। इस नपुंसकता में बड़े-बड़े लोग फँस जाते हैं। इसके उत्पन्न होने के निम्नलिखित प्रधान कारण हैं:—

(१) अत्यन्त मैथुन, बहुस्त्री-गमन, बाल-विवाह तथा अनैसर्गिक सम्बन्ध से नपुंसकता उत्पन्न होती है।

(२) किसी कारणवश पुरुष होने की योग्यता न रहने का नाम "नपुंसकता" है। इस नपुंसकता में वृद्धों की कौन कहे, थोड़ी-थोड़ी अवस्था के नवयुवक भी फँस रहे हैं। शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबन्ध न रहने के कारण प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल जाकर असमय में ही लोग अपने पुंसत्व को खो बैठते हैं।

(३) जीवनाधार अण्डकोषों की शक्ति क्षीण हो जाती है—शिस्नेन्द्रिय में उत्तेजना नहीं रहती—तनिक भी कामेच्छा होते ही वीर्य स्खलित हो जाता है—संसार का साधारण से साधारण कार्य भी उनसे नहीं किया जा सकता और अपनी स्त्री से मुँह छिपाना पड़ता है। इस रोग का रोगी गर्भाधान नहीं कर सकता। उसके वीर्य से यदि बालक हो भी जाय तो वह जीता नहीं बचता।

(४) नपुंसक पुरुष प्रायः मूर्ख, रोगी, लोभी, क्रोधी, कामी, दरिद्र तथा अल्पायु होता है।

वीर्य-रक्षा से लाभ

"ब्रह्मचर्यं सदा रक्षेदष्टधा मैथुनं पृथक् ।"

(दक्ष-संहिता)

आठ प्रकार के मैथुनों से परे जो ब्रह्मचर्य है, उसकी सदा रक्षा करनी चाहिए।

"अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम् ।"

मनुष्य को निज कृत शुभ या अशुभ कर्म का फल अवश्य मिलता है।

ब्रह्मचर्य का अभिप्राय वीर्य-रक्षा से है। वीर्य ही जीवन और शरीर का राजा है। इसके सञ्चित करने का महत्व है। हमारे आर्य ऋषियों की महत्ता और उच्च ज्ञान-तपोनिष्ठा का प्रधान कारण भी यही ब्रह्मचर्य था। बड़े-बड़े विद्वान्, ज्ञानी, शूर-वीर, यशस्वी तथा तेजस्वी होने का यही एक मूल कारण है। इससे होनेवाले कुछ लाभों का हम यहाँ संक्षिप्त रूप से वर्णन करते हैं :—

(१) ब्रह्मचर्य के बल पर असाध्य से असाध्य कर्म अविलम्ब किये जा सकते है। इसीलिए कार्य की सिद्धि तक लोग ब्रह्मचर्य से रहते है।

(२) ब्रह्मचर्य की शक्ति से तेजोवीर्य, शान्ति और आत्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यह बात हमें ऋषियों के उपदेश से ज्ञात होती है।

(३) जो पुरुष देश, धर्म और जाति की सेवा तथा रक्षा करना चाहे, वह ब्रह्मचर्य से रहने का यत्न करे।

(४) अन्तःकरण पवित्र और शान्त रखने के लिए ब्रह्मचर्य ही परमौषध है।

(५) सदैव प्रसन्न और सुखी रहने का उपाय अक्षुण्ण ब्रह्मचर्य है ।

(६) जीवन की सफलता, सुन्दर स्वास्थ्य, हृष्ट-पुष्ट अङ्गता, कार्यकारता और उद्यमशीलता के लिए ब्रह्मचर्य अमृत-रूप है।

(७) सदुद्देश्य, सदाचार, स्वात्म-शासन, स्वाधीन विचार और विश्व-प्रेम, ये सब गुण ब्रह्मचर्य के वशीभूत है।

(८) सुसन्तान, स्त्री-सुख, कुटुम्ब की अनुकूलता तथा सम्बन्धियों का सद्व्यवहार, सबकी प्राप्ति ब्रह्मचर्य से होती है।

(९) ब्रह्मचर्य से ही अमृत का लाभ कर वासना-रूपी कुरोगों का नाश किया जा सकता है।

(१०) ब्रह्मचर्य से ही दिव्य-ज्ञान और सच्चे अनुभव मिलते हैं, जिससे मनुष्य दुर्भावना तथा दुष्कर्मों से मुक्ति पा जाता है।

ब्रह्मचर्य की रक्षा से अलभ्य लाभ होते हैं। जो लोग इसे धारण करते हैं, वे ही इसके स्वाद को कुछ जान सकते हैं।

वीर्य-नाश से हानि

"सर्वस्वानुष्ठितं कार्यं,हन्यतेऽब्रह्मचर्यया।"

(सूक्ति)

मनुष्य का सब अनुष्ठान किया हुआ कार्य ब्रह्मचर्य के नाश से नष्ट होजाता है।

ऊपर के कहे हुए दोनों प्रकार के दोनों सिद्ध ब्रह्मचारी हैं। त्रिविध ब्रह्मचर्य के पालन से प्रत्येक पुरुष अमोघवीर्य और ऊर्ध्वरेता बन सकता है। दो में से एक बनना ही ब्रह्मचर्य का सच्चा 'प्रमाण-पत्र' है।

प्राचीन समय मे हमारे ऋषिलोग दोनों प्रकार के ब्रह्मचारी होते थे। बहुत से आर्य राजा भी ब्रह्मचर्य की सिद्धियाँ प्राप्त कर चुके है। महर्षियों मे वशिष्ठ, पराशर और यमदग्नि तथा राजाओं में सगर और धृतराष्ट्र अमोघवीर्य के उदाहरण है। देवव्रत भीष्म और महावीर हनूमान ऊर्ध्वरेता थे।

अमोघवीर्य की अपेक्षा ऊर्ध्वरेता बनना कठिन है। अमोघवीर्य अपनी सिद्धि से इच्छित संतान उत्पन्न कर सकता है, पर यह आज्ञा ऊर्ध्वरेता के लिए नहीं हैं। उसे अपनी महावीर्यता से केवल संसार-सेवा करने का अधिकार है। अमोघवीर्य बनने के लिए नियमित ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है, पर ऊर्ध्वरेता के लिए ब्रह्मचर्य के साथ-साथ योग का भी अनुशासन है। अमोघवीर्य होने से सर्वाङ्ग मे वीर्य की गति होती रहती है। इससे शरीर बलवान् हो जाता है—मानसिक शक्ति की वृद्धि होती है—उत्साह और साहस नष्ट नहीं होता—मुख की कान्ति नहीं घटती एवं शीघ्र वृद्धता नहीं आती। उसकी सन्तान में भी तेजस्विता, विद्वत्ता और गुणज्ञता स्वाभाविक होती है। ऊर्ध्वरेता होने से वीर्य कभी नष्ट नहीं होता। इसलिए सब शरीर वज्र बन जाता है—रोगों का आक्रमण नहीं होता—दिव्य-दृष्टि प्राप्त होती है तथा परमात्मा की भी प्राप्ति होती

है। मृत्यु को भी वश मे किया जा सकता है। उसका कोई व्रत निष्फल नहीं हो सकता।

ब्रह्मचर्य के कुछ उपदेश

१—ब्रह्मचर्य के पालन से मनुष्य को इहलोक और परलोक के सुधारने का साधन मिलता है।

२—शास्त्रार्थ में और युद्ध में विजयी बनानेवाला ब्रह्मचर्य ही है।

३—दीर्घ जीवन, उत्तम स्वास्थ्य, सुसन्तान तथा सम्पत्ति के लिए ब्रह्मचर्य ही परम साधन है।

४—एक ब्रह्मचारी पुरुष सौ यज्ञ करनेवालों से श्रेष्ठ और प्रशंसित है।

५—वीर्य ही इस शरीर का राजा है। इसके क्षीण होने से शरीरिक सभी शक्तियाँ दुर्बल और निस्तेज हो जाती हैं।

६—वीर्य का एक-एक कण जीवनी शक्ति से भरा हुआ है। जो इसे रक्षित रखता है, वह अपना आयु-बल बढ़ाता है।

७—जब तक वीर्य अपरिपक है, तब तक इसे कभी नष्ट न करना चाहिए।

८—जो यौवनावस्था में अपने वीर्य का नाश कर देता है, वह कभी सुखी नही हो पाता।

९—वीर्यवान् होने के कारण ही प्राचीन लोग बड़े विद्वान् और पराक्रमी होते थे।

१०—हीनवीर्य पुरुष को अपने कामों मे बहुत कम सफलता मिलती है।

११—काम-विकारों को दबा देना ही इन्द्रिय-दमन है। जिस का मन शुद्ध और संयमी है, वही अपने वीर्य को रोक सकता है।

१२—आदर्श ब्रह्मचर्य वही है, जिसके मन में भी काम विकार उत्पन्न न हो।

१३—अध्यापकों का धर्म है कि वे सब से पहले बालकों को ब्रह्मचर्य की महत्ता समझाकर फिर विद्या-दान करें।

१४—पुरुष को कम से कम २५ वर्ष और स्त्री को १६ वर्ष तक ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिए। क्यों कि इतनी अवस्था तक उनका वीर्य और रज अपरिपक्व रहता है।

१५—जो लोग अपने अपरिपक्व वीर्य को नष्ट करते हैं, वे अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों को हीन कर देते है।

१६—वीर्य की परिपक्वता से सब शक्तियाँ भी परिपक्व और दृढ़ हो जाती है।

१७—वेद मे पुरुषों की भाँति स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य-पालन की आज्ञा है।

१८—ब्रह्मचर्य के बल से ही राजा पृथु ने समस्त पृथ्वी को अधिकार में कर लिया था। ब्रह्मचर्य से ही परशुरामजी ने इक्कीस बार भूमण्डल के क्षत्रियों का नाश किया था। ब्रह्मचर्य के ही संरक्षण से भगवान् शिव ने कामदेव को भस्म कर दिया था। ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से मार्कण्डेय ऋषि अमर हो गये। ब्रह्मचर्य की

ही शक्ति से नचिकेता नाम के बाल-ब्रह्मचारी यमराज के यहाँ से सानन्द लौट आये। ब्रह्मचर्य से ही पितामह भीष्म महाभारत में अद्वितीय पुरुष कहलाये। ब्रह्मचर्य से ही हनूमान का नाम महावीर पड़ गया और वे जन्म भर श्रीरामचन्द्र के प्रिय सेवक और जानकी के दया-पात्र बने रहे। ब्रह्मचर्य के प्रताप से ही लक्ष्मणजी ने महाबली मेघनाद को मारा। ब्रह्मचर्य के ही बल से श्रीराम ने जनकपुर में शिवजी के भीषण पिनाक को खंड-खंड कर डाला। ब्रह्मचर्य की ही महिमा से शुकदेवजी को ८८ सहस्र बड़े-बड़े ऋषियों में उच्चासन दिया गया। ब्रह्मचर्य-व्रत से ही शङ्कराचार्य ने पुनः वैदिक धर्म का प्रचार किया। ब्रह्मचर्य के ही पालन से स्वामी दयानन्द ने पाखण्डों का खण्डन कर सत्य-धर्म को पुनः जागृत किया। जो कुछ संसार में उत्तमता के नाम से प्रसिद्ध है, वह सब ब्रह्मचर्य की ही विभूति है।

ब्रह्म-वन्दना

ॐ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्,
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जु हुराण मेनो—
भूयिष्ठां ते नम उक्ति विधेम॥

(यजु० अ० ४० म० १६)

हे अग्नि-रूप परमेश्वर! तुम सब संसार के मार्ग प्रदर्शक हो। अतएव तुम हमें उत्तम मार्ग से चलाओ! जो हम में दुर्गुण हों, उन्हें बल-पूर्वक दूर करो! हम तुम्हारी स्तुति करते हैं कि तुम हमें सुबुद्धि प्रदान करो!

आधुनिक विद्यार्थी

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं, शुक्रायत्तंच जीवितम्।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव, रक्षणीयं प्रयत्नतः॥

चित्त के अधीन मनुष्य का वीर्य होता है, और वीर्य के वश में जीवन है। इसलिए मन और वीर्य की यत्न-पूर्वक रक्षा करनी चाहिए।

आजकल देश का वायु-मण्डल इतना दूषित हो गया है कि उसके कारण हमारे बालक-विद्यार्थियों का सर्वनाश होरहा है।

जो विद्यार्थी शिक्षा के प्रधान पात्र समझे जाते हैं, वे अब दुर्गुणों के भंडार या यों कहिए कि उत्पादक हो रहे है।

विद्यार्थी-अवस्था में बालकों की देख-रेख की बड़ी आवश्यकता है। उन पर जो संस्कार इस अवस्था में डाले जाते हैं, वे सर्वदा के लिए स्थायी होते हैं।

वास्तव मे विद्यार्थी-जीवन बड़े महत्व का होता है। इस प्रारम्भिक अवस्था में ही भाग्य-निर्माण का गुरुतर काम किया जाता है। इसी समय में विद्यार्थी को जितेन्द्रियता, परोपकार, ब्रह्मचर्य, सदाचार, ज्ञान-विज्ञान तथा संसार के विविध प्रकार के कला-कौशल का ज्ञान कराया जा सकता है। अतएव यह छात्रावस्था बड़े दायित्व की समझी जानी चाहिए।

वर्तमान समय के विद्यार्थियों की दशा बड़ी शोचनीय होरही है। वैदिक आर्यधर्म-प्रणाली से शिक्षा न होने के कारण आधुनिक विद्यार्थी समाज में नाना प्रकार के दोष घुस गये हैं। बालकों को सच्ची शिक्षा

तो दी ही नहीं जाती। उन्हें धर्म की शिक्षा न मिलने के कारण वे अपने जीवन को किसी योग्य नहीं बना पाते। बाल्यवस्था से ही उन पर कुसंस्कार पड़ने लगते हैं। विद्या के अपूर्ण अङ्गों से उनमें ज्ञान का प्रकाश नही होने पाता। अज्ञान-वश वे बुरे व्यसनों के अभ्यासी बन जाते है। सौ में पांच विद्यार्थी भी ब्रह्मचारी तथा कर्म-निष्ठ नहीं निकलते। विद्यालयों मे साक्षरता के साथ-साथ अनेक दुर्गुण प्राप्त हो जाते है, जो यौवनावस्था में उसके पतन के प्रधान कारण होते हैं।

यह बात पूर्ण रूप से देखी गई है कि आधुनिक शिक्षितों की अपेक्षा अशिक्षित लोग विशेष संयमी, ब्रह्मचारी, स्वस्थ तथा चतुर होते है। ऐसा क्यों ? इसका उत्तर यही है कि आधुनिक विद्यार्थी-जीवन में अनेक दुर्गुण भर जाते है। शिक्षा-प्रणाली इस प्रकार की है कि उनका संशोधन नही कर सकती। अतः बड़े सुधार की आवश्यकता है।

हमारे प्यारे विद्यार्थियो। यदि तुम सच्चे विद्यार्थी बनकर कुछ संसार की सेवा करना चाहते हो तो, उस कुशिक्षा से बचो जिसमें पढ़कर सदाचार, स्वास्थ्य, ज्ञान, आत्मतेज तथा धर्म का नाश होता हो। तुम गुरुकुलों की शिक्षा को प्राप्त कर, ब्रह्मचारी, विद्वान् तथा तेजस्वी बनकर अपने मनुष्य-जीवन को सार्थक करो। तुम्हारी शक्ति, ज्ञान, तुम्हारी इच्छा और तुम्हारे साहस से ही स्वाधीनता प्राप्त हो सकती है। हत-वीर्य लोगों के हाथों में कभी भी शासन नहीं ठहर सकता। यदि धर्म के प्रति, जाति के प्रति और परमेश्वर के

प्रति तुम्हारी कुछ भी श्रद्धा है और यदि तुम अपने को योग्य बनाना चाहते हो, तो ब्रह्मचारी बनो—वीर्य के एक बिन्दु को भी नष्ट न होने दो।

अपक्व वीर्य-पात के दोष

"मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दु-धारणम्।"

वीर्य के एक बिन्दु का नष्ट होना मरण और एक बिन्दु का धारण करना जीवन है।

"अपक्वं दोष-कारणम्।"

अपरिपक्व वस्तु में दोष होते है।

वास्तव मे अपरिपक्वता बड़ी बुरी वस्तु है। इसकी रक्षा से ही जीवन में सफलता मिल सकती है। इस विषय मे बहुत उत्तम कहा गया है:—

वनस्पते रपक्वानि, फलानि प्रचिनोति यः।
सनाप्नोति रसं पभ्यो, बीजं चास्य विनश्यति॥

(सूक्ति)

जो पुरुष बिना पकी हुई वनस्पति के फलों को तोड़ना चाहता है उसे उसमें रस नहीं मिलता और उसका बीज भी नष्ट हो जाता है।

कच्चे फल में मीठा रस नहीं होता। उसके बीज में पुष्टता और उत्पादन-शक्ति नहीं रहती। अतः उचित समय पर ही फल लेना योग्य है।

यही बात मनुष्यों के लिए भी घटती है। मनुष्य-शरीर मे जब तक वीर्य अपरिपक्व है, तबतक उसकी रक्षा करनी चाहिए। वीर्य के बल से सब कार्य होते है। इसके बिना सारे कार्य निष्फल होते है।

पंचविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे।
समत्वा गत वीर्यौ तौ, जानीयात् कुशलो भिषक्॥

पच्चीस वर्ष मे पुरुष का वीर्य और सोलह वर्ष में स्त्री का रज दोनों समान हो जाते है। इस बात को चतुर वैद्य जान सकते है।

यदि लोग इस वचन का उलंघन कर वीर्य-पात करने मे प्रवृत्त हों, तो इससेनिम्नलिखित दोष उत्पन्न हो जाते है:—

(१) कच्चे वीर्य के बाहर होने से शरीर की सभी धातुयें निस्तेज हो जाती है।

(२) शारीरिक विकास और सौन्दर्य नष्ट हो जाता है।

(३) ओज की कमी हो जाने से प्रसन्नता और उत्साह भी घट जाता है।

(४) सब अङ्गों की शक्ति घट जाने मे आयुर्बल भी कम हो जाता है।

(५) असमय में आँखों की ज्योति क्षीण हो जाती है। मुख के दाँत गिर जाते है। बाल भी पकने लगते है।

(६) पुरुष थोड़े ही दिनों मे नपुंसक हो जाता है और स्त्री आर्त्तव से हाथ धो बैठती है।

(७) पहले तो सन्तान उत्पन्न नहीं होती। यदि होती भी है, तो बहुत कम दिन जीनेवाली और सब अंगों से दुर्बल होती है।

वीर्य-नाश के प्रधान कारण

विकार हेतौ सति विक्रियन्ते ।
येषां न चेतांसि त एव धीरा ॥
(सूक्ति)

विकार उत्पन्न करनेवाले कारणों के रहने पर भी जिन पुरुषों की मनोवृत्तियाँ नहीं बिगड़तीं, वे ही धीर कहलाते हैं।

आर्य जाति का दिन पर दिन पतन होता जा रहा है इसकी चिन्ताजनक अवस्था पर विचार करने से एक बार हृदय पर घोर आघात होता है। प्राचीन गौरव के इतिहास को आधुनिक परिस्थिति से मिलाने से यही बात ज्ञात होती है कि इसकी अवनति का प्रधान कारण 'वीर्य-नाश' है। जब तक जाति में विषय-वासनाओं से घृणा रहती है, व्यभिचार बुरी दृष्टि से देखा जाता है, ब्रह्मचर्य-विद्या के लिए पूर्ण रूप से उद्योग होता रहता है और सदाचार की शिक्षायें बढ़ती है, तब तक वह उन्नति के शिखर से नहीं गिरती। पर जिस देश में वीर्यनाश प्रारम्भ हो जाता है, वह अधिक दिनों तक नहीं जी सकता।

वीर्य-नाश के कई प्रधान कारणों का उल्लेख यहाँ किया जाता है, जो जनता में अपना विकराल रूप धारण कर उसको रसातल की ओर ले जा रहे हैं।

१—बाल-विवाह

निर्बोध बालकों का विवाह एक अबोध बालिका के साथ कर दिया जाता है। ये दोनों अज्ञानतावश विषय में रत होकर कुछ दिनों मे हत-वीर्य हो जाते हैं और इससे प्राणों का भय भी हो जाता है। यदि पुरुष मरा तो जन्म भर वह स्त्री विधवा दुःख उठाती है, और यदि स्त्री मरो तो उसका हीन-वीर्य पति दूसरी कन्या से विवाह कर उसका भी सर्वनाश कर देता है।

बाल-विवाह के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द कहते हैं:—

"जिस देश में ब्रह्मचर्य-विद्या-रहित बाल्यावस्था मे विवाह होता है, वह देश दुःख (सागर) में डूब जाता है। क्योंकि ब्रह्मचर्य-विद्या के ग्रहण-पूर्वक विवाह के सुधार से सुधार और बिगाड से बिगाड़ होता है।"

बाल-विवाह से यह हानियाँ होती हैं:—

(१) तेजस्वी बालक भी बाल्यावस्था के विवाह से मूर्ख तथा हतभागी बन जाता है।

(२) प्रथम तो सन्तान होती ही नहीं, यदि होती भी है, तो रोगी और निर्बल होकर शीघ्र ही मर जाती है।

(३) युवावस्था आते-आते सब शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं।

(४) बाल-विवाह से बालिकाओं का भी वही अहित होता है जो बालकों का।

(५) बालिकायें रुग्णा, निर्बल, कुलटा बुद्धिहीना होकर शीघ्र मर जाती है।

(६) बाल-विवाह से देश और जाति की सबसे बडी हानि होती है।

२—वृद्ध-विवाह

"वृद्धस्य तरुणो विषम्।"

(सूक्ति)

वृद्ध पुरुष के लिए तरुणी स्त्री विष के समान होती है।

धन के लोभ से एक वृद्ध पुरुष के साथ निरी बालिका का विवाह कर दिया जाता है। जब तक वह युवती होती है, तब तक यह यमपुरी को प्रस्थान कर देते है। अब वह अबला वैधव्य के कठोर दण्ड को न सहकर गुप्त रूप से व्यभिचार करती है। गर्भ रह जाने पर भ्रूण-हत्या के पाप को भी लाज-भय के कारण कर बैठती है। इस प्रकार भी काम न चला तो वह घर से बाहर निकल जाती है, और वेश्या हो जाती है या किसी विधर्मी के यहां आश्रय पाती है।

वृद्धावस्था मे मैथुन की शक्ति यों ही घट जाती है इस समय पुरुष को जितेन्द्रिय होकर योग द्वारा जीवन व्यतीत करना लिखा है। इसी अवस्था में संसार में धर्म तथा जाति की सेवा हो सकती है। पर हमारे अज्ञानी वृद्ध हिन्दू-धर्म के मूलोच्छेदन पर तुले हुए हैं। इससे बढ़कर परिताप की और क्या बात होगी!

वृद्ध-विवाह के सम्बन्ध में स्व० स्वामी श्रद्धानन्द जी कहते हैं:—

"वृद्ध-विवाह से विधवाओं की संख्या बढ़ रही है। इनके कारण समाज में बड़ी अमर्यादा हो रही है, पर द्विजाति लोग इनका उद्धार करने से डरते है। इसलिए हमारा तो यही अनुरोध है कि ४० वर्ष की अवस्था के पश्चात् किसी पुरुष का विवाह न होने देना चाहिए।"

वृद्ध-विवाह से होनेवाली कुछ हानियाँ ये है:—

(१) वृद्ध-विवाह से कुल का नाश हो जाता है।

(२) जाति मे स्त्रियों की कमी से नवयुवकों का अधिकार छिन जाता है।

(३) विधवायें अधिक उत्पन्न होती है।

(४) वृद्ध से विवाहित स्त्रियाँ व्यभिचार कराती है।

(५) बहुत सी आत्म-हत्याये और भ्रूण-हत्यायें होती हैं।

(६) वृद्ध पुरुष की सन्तान में अनेक दुर्गुण होते है।

(७) वृद्ध लोग समाज की सेवा से विरक्त रह जाते है।

(८) वृद्ध-विवाह से देश मे वेश्याओं की संख्या बढ़ती है।

३—वेश्या-गमन

वेश्यासौ मदन-ज्वाला, रूपेन्धन समेधिता।
कामिभिर्यत्र हूयन्ते, यौवनानि धनानि च॥

(भर्तृहरि-शतक)

यह वेश्यारूप-ईन्धन से सजाई हुई कामाग्नि की ज्वाला होती है। कामी पुरुष इसमें अपने यौवन और धन की आहुति देते हैं।

हमारे देश मे अज्ञानता का साम्राज्य ता है ही। धनी लोग प्रायः लाड़-प्यार के मारे तथा धन के मद में आकर अपने पुत्रों को ब्रह्मचर्य तथा विद्या से विहीन रखते हैं। इसका यह परिणाम होता है कि उनके बालक बाल्यावस्था से ही कुसंग में पड़कर विचार भ्रष्ट हो जाते है। वे कुछ ही दिनों में युवक होकर-वेश्यालय में जाने लग जाते हैं। वहाँ वेश्य.यें भी इनको अपने मायाजाल में फंसाने के लिए सदा तत्पर रहती हैं। जो युवक एक बार भी इनके संसर्ग में पड़ा, वह जीवन-पर्यन्त छूट नहीं सकता। इनके समागम से गर्मी, सुजाक, पथरी, राजयक्ष्मा और प्राणनाशक भयंकर रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इनके संसर्ग से घर की स्त्री को भी इनके रोग लग जाते हैं। यदि सन्तान हुई, तो वह भी अत्यन्त विकारयुक्त होकर इनके कुकर्मों का फल भोगती है। इन वेश्याओं के कारण अनेक वंश नष्ट हो गये।

वेश्याओं के प्रचार का एक कारण उनका नृत्य भी है। बहुत से अज्ञानी भाई इनके नृत्य के बिना विवाह या किसी प्रकार के उत्सव को अधूरा ही समझते है। इनके हाव-भाव तथा कटाक्ष पर कितने ही अच्छे पुरुष मोहित होकर भ्रष्ट होते हैं। इनके सुसज्जीकरण पर मुग्ध होकर बहुत-सी स्त्रियाँ भी दुष्कर्म में प्रवृत्त हो जाती है।

वेश्याओं से होनेवाली कुछ हानियाँ ये हैं:—

(१) वेश्या-गमन से पुरुष महा पातकी हो जाता है।

(२) वेश्यागामी का अन्तःकरण इतना मलिन हो जाता है कि वह अपने कुटुम्ब की स्त्रियों पर भी कुदृष्टि डालने से नहीं चूकता है।

(३) वेश्यागमन से निश्चय ही भयंकर रोग उत्पन्न हो जाते है।

(४) वेश्यागामी पुरुष कभी-कभी नर-हत्या या आत्म-हत्या भी कर बैठता है।

(५) वेश्यागामी का कुल कभी उन्नत नहीं हो सकता। उसकी सम्पत्ति, कीर्त्ति और धर्म का नाश हो जाता है।

४—पर-स्त्री-गमन

नहीदृशमनायुष्यं, लोके किञ्चन दृश्यते।
यादृशं पुरुषस्येह, परदारोपसेवनम्॥

(मनुस्मृति)

इस संसार में पुरुष का आयुर्बल क्षीण करनेवाला ऐसा कोई भी कार्य नहीं है, जैसा कि पराई स्त्री के साथ रमण करना है।

वेश्या-गमन और पर-स्त्री-गमन में विशेष अन्तर नहीं जो अपनी स्त्री से भिन्न है, वही पर-स्त्री कही जाती है। ऊपर की मनु की सम्मति से विदित होता है कि पर-स्त्री-गमन बहुत ही बुरा है। वास्तव में ऐसा ही है। पर-स्त्री-गामी पुरुष निर्बल, निस्सन्तान, दुष्ट, गुप्त पापी, हठी, क्रूर, अल्पायु और महा-निन्दित हो जाता है। पर-स्त्री के प्रेम में रत रहनेवाला अपनी पत्नी को कभी तुष्ट नहीं कर सकता। जो पति अपनी विवाहिता स्त्री पर समुचित प्रेम नहीं रखता, उसकी स्त्री भी पर-पुरुष से मिल जाती है। इस प्रकार स्त्रियों का पति-व्रत धर्म नष्ट हो जाता है। और पुरुष भी अपने परमोत्तम एक

पत्नी-व्रत का नाश कर देता है। पुरुष हो या स्त्री, जिसका सदाचार छूट जाता है, उसका मन फिर सधना कठिन होता है।

पर-स्त्री-गमन से होनेवाली कुछ हानियों का वर्णन करते हैं:—

(१) पर-स्त्री-गामी की स्त्री कर्कशा और दुष्टा हो जाती है।

(२) पर-स्त्री-गामी के घर में कभी शान्ति नहीं रहती।

(३) उसका रहस्य खुलने पर संसार में घोर निन्दा होती है।

(४) उन्नत पुरुष भी पर-स्त्री के प्रेम से दिन पर दिन अवनत हो जाता है।

(५) उसके चरित्र पर कभी अपनी या पर-स्त्री भी विश्वास नहीं करती।

५—अति मैथुन

अति स्त्रीसम्प्रयोगाच्च, रक्षेदात्मानमात्मवान्।
क्रीड़ायामपि मेधावी, हितार्थी परिवर्जयेत्॥

(वैकद्य)

सावधान मनुष्य को उचित है कि अत्यन्त स्त्री-प्रसंग से अपने को बचाये रहे। अपना भला चाहनेवाला बुद्धिमान् पुरुष क्रीड़ा (स्त्री-विहार) में भी अति प्रसंग को त्याग दे।

बहुत से लोग ऐसे हैं, जो वेश्या-गमन और पर-स्त्री-गमन को बुरा समझते है, पर अपनी स्त्री के साथ अति मैथुन को बुरी नहीं समझते। उनकी धारणा है कि अपनी स्त्री के साथ विशेष रमण करना पाप नहीं। वह तो इसीलिए है ही। ऐसे विचारवालों से

निवेदन है कि अति मैथुन सर्वथा हानिप्रद है। वह भी एक प्रकार का व्यभिचार है। असमय मे वीर्य-पात से कुछ लाभ नहीं होता, प्रत्युत पाप ही लगता है। वीर्य से ही बालक की उत्पत्ति होती है। हम पहले कह भी चुके है कि वीर्य में असंख्य कीट रहते है। अति मैथुन से उन सब का वृथा नाश होता है। इसी कारण वैद्यक-शास्त्र में अति का निषेध किया गया है।

शूल कास ज्वर श्वास, कार्श्य पाड्वामयक्षयाः।
अति व्यवायाज्जायन्ते, रोगाश्चाक्षेपकादय·॥

अति मैथुन से शूल, खाँसो, ज्वर, श्वास, दुर्बलता, पीलिया रोग, क्षय तथा आक्षेप (वातव्याधि) आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

६—अनैसर्गिक मैथुन

स्त्री-प्रसङ्ग सृष्टि-विज्ञान के अनुकूल माना गया है। प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध अन्य उपायों-द्वारा वीर्य-पात करने का नाम "अनैसर्गिक मैथुन" है। अज्ञान के कारण आजकल हमारे देश मे कई प्रकर के कुमैथुनों का प्रचार हो गया है। इनमें पडकर जन-समूह का वडा भारी अहित हो रहा है।

कई अनैसर्गिक मैथुन मे से दो मुख्य हैं। एक का नाम गुद-मैथुन और दूसरे का नाम हस्त-मैथुन है। आर्य-जाति में ये दोनों पहले नहीं थे।

एक ऐतिहासिक का कहना है कि इन दोनों मैथुनों के जन्मदाता

पाश्चात्य देश है। पहले-पहल विदेशों में ही इनका प्रचार हुआ। फिर क्रमशः जो-जो जातियाँ समय-समय पर भारत में घुसीं, उन्हीं के साथ इनका यहाँ भी प्रचार हो गया।

"गुदा-मैथुन" बालकों के साथ दुर्व्यवहार करने को कहते हैं। यह दूषण विद्यार्थियों और अविवाहित पुरुषों मे बहुत फैल रहा है। इसके कारण पुरुष बल-रहित हो जाता है। सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति मारी जाती है। इन्द्रिय में उत्तेजना नहीं रहती। गुदा-मैथुनी पुरुष को स्वप्न-दोष, प्रमेह, शूल, संग्रहणी, कोष्ठबद्धता, मन्दाग्नि, उरः क्षत और उपदंश-जैसे रोग उत्पन्न हो जाते हैं। वह पुरुष थोड़े ही दिन में नाना प्रकार के रोगों का कोप बनकर अपनी जीवन लीला समाप्त कर देता है।

डाक्टर हिल साहब कहते हैं:—"हस्त-मैथुन वह जबरदस्त कुल्हाडा है जिसे अज्ञानी युवक अपने ही हाथों अपने पैरों में मारता है और चेत तब होता है, जब कि हृदय, मस्तिष्क, आमाशय और मूत्राशय निर्बल होकर, स्वप्नदोष, शीघ्र पतन, प्रमेह आदि दुष्ट-रोग आ घेरते हैं और जननेन्द्रिय छोटी टेढ़ी और निर्बल होकर गृहस्थ धर्म के सर्वथा अयोग्य हो जाती है।"

"हस्त-मैथुन" उस कुकर्म का नाम है जो हाथ के द्वारा वीर्य-स्खलन का कारण होता है। इस दुर्व्यसन का प्रचार नवयुवक विद्यार्थी तथा अविवाहित पुरुषों मे विशेषतर हो रहा है। इस कुकृत्य के कारण बहुत से लोगों का सर्वनाश तक हो जाता है। जो इसमें पड़ जाता है, वह मर कर ही इससे छूटता है। कई सद्वैद्यों के सूचीपत्रों

मे इस बुरी क्रिया के करनेवालों के पत्र पढ़े है। प्रत्येक पत्र के पढ़ने से घृणा, दुःख तथा परम शोक हुआ। ऐसे पुरुष वैद्यों की शरण मे जाते रहते है, पर कुछ भी लाभ नही होता। इससे निम्नलिखित रोग उत्पन्न होते है:—

मूत्राशय निर्बल हो जाता है, धातु मे क्षीणता आ जाती है, दृष्टि की कमी, क्षुधा, तृपा, मन्दाग्नि स्वप्न-दोप, मृगी, उन्माद, बुद्धिभ्रंश, क्षय, उरक्षत, कोष्ट-बद्धता, शिरः-पीडा तथा मधु मेह जैसे रोग उत्पन्न होते है।

अज्ञानता तथा कुसङ्ग के कारण बालक इस दुष्कर्म मे प्रवृत्त हो जाते है। प्रारम्भ मे तो इससे उन्हे सुख प्रतीत होता है, पर कुछ दिनों मे इसके कारण होनेवाली हानियाँ भी सूचित हो जाती है। यदि उसी समय यह अवगुण छूटा, तब तो कुछ सुधार भी हो जाता है। इससे जो रोग उत्पन्न होते है, वे स्थायी होते है।

७—तामस तथा राजस भोजन

"कुभोजनं दुःखकरं न योग्यम्"

(सूक्ति)

बुरे भोजन से दुःख प्राप्त होता है, इसलिए अयोग्य है।

सात्विक भोजन के विपरीत आहार का नाम तामस भोजन है। तामसी भोजन से मनुष्य में तमोगुण की वृद्धि होती है। इसीलिए शास्त्रों में इसका निषेध किया गया है।

यह तो सभी जानते हैं कि जैसा आहार किया जाता है वैसी ही बुद्धि होती है। जिसकी बुद्धि अच्छी नहीं रहती, उसका मन बुरे कर्मों में लगा रहता है। तामसी आहार करनेवाले पुरुषों से वीर्य-रक्षा नहीं हो सकती। इसलिए ऐसे आहार से दूर रहना ही अच्छा है।

यातयामं गतरसं, पूति पर्युषितञ्च यत्।
उच्छिष्टमपिचामेध्यं, भोजनं तामसप्रियम्॥

देर का बना हुआ, रस-विहीन पदार्थ, दुर्गन्धियुक्त लहसुन, प्याज, मछली तथा मास आदि बासी और जूठा (अपवित्र) आहार तामस कहलाता है।

तामस के अतिरिक्त राजस आहार भी हमारे वीर्य-नाश का कारण होता है। इन आहार के प्रेमियों के लिए वीर्य-संरक्षण बड़ा ही कठिन होता है।

कट्वम्ललवणात्युष्ण, तीक्ष्ण रूक्ष विदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा, दुःखशोकामयप्रदाः॥

(गीता

अति कटु (बहुत मिर्चवाला पदार्थ) अति खट्टा, अत्यन्त नमकीन, अति तीक्ष्ण, बहुत गरमागरम पदार्थ, राई आदि मिश्रित रूखा और अत्यन्त दाह करनेवाला आहार—राजस कहलाता है। इससे दुःख, शोक तथा रोग बढ़ता है।

जिह्वा की लोलुपता के कारण लोग तामस और राजस आहार

से प्रेम करते है, पर यह नहीं जानते कि इससे आन्तरिक हानि होती है।

८—मादक द्रव्य-सेवन

"बुद्धिं लुम्पति यद्द्रव्यं, मदकारि तदुच्यते ।"

(वैद्यक)

जिस वस्तु से मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो, उसे मदकारी या मादक कहते है।

"मधु मासञ्च वर्जयेत् ।"

(मनुस्मृति)

मदिरा और मास का सेवन करना वर्जित है।

भारतवर्ष मे मादक द्रव्यों का प्रचार दिन-दूना रात-चौगुना बढ रहा है। इससे हिन्दू-समाज की जो हानि हो रही है, वह कहने मे नहीं आ सकती।

धर्म-शास्त्र के अनुसार मदिरा और मास तामसी पुरुषों और राक्षसों का आहार है। पौराणिक काल मे भी असुरों के अतिरिक्त कोई भी मादक द्रव्यों का सेवन नहीं करता था। पर काल के प्रभाव से अब बहुत ही कम लोग ऐसे है, जो एक न एक प्रकार के मादक द्रव्य का सेवन न करते हों।

मादक द्रव्य भी हमारे वीर्य के नाश करने में अग्रसर हो रहे है। बहुत से लोग मानसिक दुर्बलता के कारण मादक द्रव्य का एक बार सेवन कर, फिर जन्म भर उससे नहीं छूट सकते। देश के कुछ

सत्पुरुषों ने मादक द्रव्य का बहिष्कार करने के लिए बहुत प्रयत्न किया, पर दुर्भाग्य-वश पूरी सफलता नहीं मिली। देखें, इन मादक द्रव्यों से कब समाज का पिण्ड छूटता।

मादक द्रव्य के सेवन से बुद्धि नष्ट हो जाती है, हृदय दुर्बल और निरतेज हो जाता है, शरीर जर्जरित होने लगता है। आलस्य, अनुत्साह और क्रोध की वृद्धि होती है। वीर्य-नाश के लिए उत्तेजना मिलती है। मादक द्रव्य का प्रेमी पुरुष ऋणी, दरिद्र, दोषी, चोर तथा जुआरी हो जाता है। मादक द्रव्य से सब गुण नष्ट हो जाते हैं। आयुष्य घट जाता है। इसके सेवन से समाज सदैव गुलाम बना रहता है।

९—कुशिक्षा और कुसंग

"सङ्गात्संजायते कामः।" (गीता)

विकारों से उत्पन्न होने वाले विषयों के सहवास से काम की उत्पत्ति होती है।

"कामिनां कामिनीनाञ्च, सङ्गात्कामी भवेत्पुमान्" (सूक्ति)

कामीपुरुष या भोगवती स्त्री के साथ रहनेवाला भी कामी बन जाता है।

ब्रह्मचर्य के नाश करनेवाले कारणों में कुशिक्षा और कुसङ्ग भी हैं।

आजकल की शिक्षा ऐसी अच्छी नहीं है जो कि बालकों को विलासिता से दूर रख सके। सौ मे पचासी बालक निर्बल, दृष्टिहीन, धर्म-भ्रष्ट, अविचारी, गुप्त पापी और प्रमादी हो जाते है।

देश मे अच्छे पुरुषों का भी अभाव है। बुरे लोगों के सङ्ग पड़कर बालक अपने को नष्ट-भ्रष्ट कर डालते हैं। उनके माता पिता और गुरु भी उनकी कुसङ्ग से रक्षा नहीं कर सकते। इसलिए सुबोध लोगों का कर्त्तव्य है कि वे बालक-बालिकाओं की कुशिक्षा और कुसङ्ग से पूर्ण रूप से रक्षा करें।

१०—भोग की तृष्णा

"भोगे रोगभयम्।"

भोग मे रोग होने का भय रहता है।

"भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः।"

(भर्तृहरि-शतक)

हम भोगों को नहीं भोग सके, प्रत्युत भोगों ने हमे ही नष्ट कर डाला।

इस संसार मे मनुष्य बड़ा विचित्र जीव है। वह ज्ञानवान् होने पर भी अपनी अज्ञानतावश भोगों मे अनुरक्त रहता है। वह समझता है कि इसमे सुख है। वह चाहता है कि इस भोग्य वस्तु को अधिकता से भोगने से मन की शान्ति होगी, पर इसका विपरीत ही परिणाम होता है। अङ्गों के शिथिल हो जाने पर तृष्णा शान्ति कदापि नहीं होती।

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डम्।
दन्तविहीनं जातं तुण्डम्॥

कर धृत कम्पित शोभित दण्डम् ।
तदपि न मुञ्चत्याशा पिण्डम् ॥

। शङ्कराचार्य

अंग शिथिल पड़ जाते हैं, सिर हिलने लगता है, मुख में दांत नहीं रह जाते और हाथ में लाठी लेकर काँपते हुए चलते हैं। फिर भी पुरुष की एक न एक प्रकार की आशा बनी ही रह जाती है।

इससे यह बात विदित होती है कि वृद्धता में भी तृष्णा का नाश नहीं होता। अतएव जो पुरुष भोग के भोगने की चेष्टा करता है, वह वास्तव में मूढता करता है। भोगों के भोगने से आजतक किसी की न इच्छा पूरी हुई, और न हो सकती है। मनुष्य की इच्छायें इतनी बलवती हैं कि वे कभी तुष्ट नहीं होती हैं, वरन् दिन पर दिन बढ़ती जाती हैं।

प्राचीन समय में ययाति नाम के एक राजा थे। वे किसी शाप-वश युवावस्था में ही वृद्धता को प्राप्त हो गये थे। पर उनकी भोगेच्छा नहीं गई। तब उन्होंने अपने सब लड़कों को बुलाकर पूछा कि हमें कौन अपनी जवानी देगा ?

इस पर सब से छोटे लड़के के अतिरिक्त सभीने अपने पिता की याचना को अस्वीकार कर दिया। इसलिए ययाति ने उसीको अपनी वृद्धता देकर तरुणता ली और बहुत दिनों तक भोग में लगे रहे। अन्त में उन्होंने इस प्रकार अपने मत के उद्गार प्रकट कियेः—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्ण वर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

काम-वासनाओं की शान्ति उनके भोगने से कदापि नहीं होती, बल्कि उनकी वृद्धि होती जाती है अग्नि मे हव्य पदार्थ के डालते रहने से उसकी ज्वाला बढ़ती ही जाती है। वह कभी घट नहीं सकती।

यत्पृथिव्यां व्रीहि यवं, हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं, तस्मात्तृष्णा परित्यजेत्॥

संसार मे जितने अन्न, सुवर्ण, पशु और स्त्रियां है, एक पुरुष के भोगने के लिए भी पर्याप्त नहीं है, इसलिए तृष्णा को छोड देना चाहिए।

या दुःसत्यजा दुर्मतिभिर्नजोर्यति सुजीर्यतः।
याऽसौ प्राणान्तिकारोगीगाता तृष्णात्यजतः सुखी॥

जो मूर्ख पुरुषों से छोडी नही जा सकती, जो जीर्ण हो जाने पर भी जीर्ण नहीं होती और जो प्राणों का नाश करनेवाली व्याधि है—इस तृष्णा को छोडने से ही मनुष्य सुखी हो सकता है।

यह कह कर उन्होंने अपने पुत्र से पुनः वृद्धता ले ली और बहुत प्रकार से आशीर्वाद दे कर उसे बिदा किया।

६—दुराचार की निन्दा

बद्धो हि को यो विषयानुरागी।
का वा विमुक्तिर्विषये विरक्तिः॥

(प्रश्नोत्तरी)

कौन बधा हुआ है ? वह, जो विषयों मे लिप्त है। और मुक्त वही है जो विषयों से अलिप्त है।

मनुष्य ज्ञान-प्रधान प्राणी है। उसे कर्मों की नीचता और उच्चता का स्वयं ज्ञान होता है। पर वह अपनी तामसी वृत्ति के कारण ऊपर चढ़ने की अपेक्षा नीचे ही अधिक उतरता है। इस कारण वह दिन-पर-दिन पतन के गर्त में गिरता ही जाता है। यदि वह इस दुर्गुण को दबादे, तो वह पापों से मुक्त हो सकता है। वह यह जानता है कि पाप का फल विष के समान होता है, जो दुष्कर्मी को अवश्य मिलता है, पर अज्ञान और प्रमाद-वश उसी ओर बढ़ता है। सत्य कहा गया है:—

"पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरा मुन्मत्त भूतं जगत।"

संसार मोह मयी मदिरा को पीकर उन्मत्त हो रहा है।

उन्मत्तता की दशा में मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। उसे बुरे-भले का ज्ञान नहीं रह जाता है। इसी से वह असावधानी करता है, और उससे होनेवाले कटु फल को चखता है। पर जब उसे स्वयं ज्ञान होता है, तब उसे अपनी करनी पर पश्चात्ताप होता है। वह अपने मन में इस बात की प्रतिज्ञा करता है कि अब मैं भूल कर के भी ऐसे दुष्कर्म मे न फँसूँगा। यदि इसी भाँति दृढता रही तो वह सुधर भी जाता है, पर बहुत कम लोग ऐसे हैं, जो अपने को इस दुराचार के हाथ से बाहर कर सकते है।

दुराचार से बढ़कर मनुष्य का संसार में दूसरा अहित नहीं। जो इसका अनुयायी हुआ, उसको अपने जीवन से हाथ धोना पड़ता है। यह उस राक्षस के समान है, जो जीते-जी शरीर के सब रक्त को पी जाता है। यह मनुष्य के भीतर है, पर इसको न दबाते

रहने से यह मनुष्य का सर्वनाश करके ही रहता है। दुराचार आदि मे प्रिय और अन्त मे अप्रिय होता है। इसीलिए मनुष्य भ्रमवश उसके लोभ मे पड जाता है।

इस विषय में धर्माचार्य मनु कहते हैः—

दुराचारो हि पुरुषो, लोके भवति निन्दितः।
दुःख-भागी च सततं, व्याधितोल्पायुरेवच॥

दुराचारी मनुष्य ससार मे निन्दा का पात्र, सदा दुखी, रोगग्रस्त और अल्पायु होता है।

वास्तव मे पाप धीरे-धीरे बढ़कर दुराचारी को मूल से नष्ट कर देता है। द्वापर मे यदु-वंशियों की सत्ता बहुत बढ गई थी। श्रीकृष्ण के कारण वे दिन पर दिन उन्नत होते गये, पर जब उनकी शिक्षाओं का लोप होने लगा, वे लोग दुराचारी हो गए। कहा जाता है कि उनकी संख्या ५६ कोटि थी। उनमे मदिरा, मास और मैथुन के दुर्व्यसन घुस गये। फिर ऐसा विग्रह हुआ कि वे आपस में लडकर मर मिटे।

दुराचारी पुरुष स्वयं अपने कुकर्म का फल भोगता है। प्रायः सभी सद्ग्रन्थों मे दुराचार की निन्दा की गई है, और इससे पृथक् रहने का आदेश किया गया है। अतएव जो लोग आत्म-कल्याण चाहते हैं, वे प्रयत्न पूर्वक दुराचार से पृथक् रहे। यदि हृदय मे ब्रह्मचर्य के प्रति श्रद्धा है, तो दुराचार मे बचना कोई कठिन काम नहीं।

काम-शमन के उपदेश

शूरान्महाशूरतमोऽस्ति कोऽवा।
मनोजबाणैर्व्यथितो न यस्तु॥

(शंकराचार्य)

शूरों में भी महाशूर कौन ? वह पुरुष, जो कामदेव के बाणों से व्यथित न हुआ हो।

वास्तव मे कामदेव का तीक्ष्ण बाण सहना कठिन काम है। जो उसके बाणों को खाकर भी सावधान चित रह जाय, उसे ही महाशूर कहना चाहिए। महाराज भर्तृहरि कहते हैं:—

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः।
केचित् प्रमत्त मृगराज-वधेऽपिदक्षाः॥
किन्तु ब्रवीमि बलिना पुरतः प्रसह्य।
कन्दर्प-दर्प-दलने विरला मनुष्याः॥

मतवाले हाथी के मस्तक को विदीर्ण करने वाले शूर तो संसार मे बहुत से है—कोइ-कोई ऐसे भी हैं, जो क्रोधित सिंह को भी मारने में निपुण है, किन्तु मैं बड़े-बड़े बली लोगों के सामने ललकार कर कहता हू कि कामदेव के दर्प को चूर्ण करने वाले विरले ही पुरुष होते है।

यह बात बहुत ही सत्य है। विकारों का नाश करनेवाले पुरुषों की संख्या संसार मे बहुत कम होती है। पर ऐसी बात नहीं है। काम-वासनाओं का नाश करना कोई असम्भव बात नहीं। आज तक अनेक ऐसे प्रातःस्मरणीय पुरुष हो गये है,

जिन्होंने काम-विकारों को अपनी इच्छा के अनुकूल करके उससे लाभ उठाया है।

काम-विकारों को रोकने के लिए निम्नलिखित उपाय अत्यन्त उपयोगी है—

१—शीतल जल से सिर को तबतक धोते रहना, जबतक चित्त स्थिर न हो जाय।

२—इच्छा से अधिक ठंडा जल पी लेना चाहिए।

३—किसी खट्टे फल को इच्छा न होते हुए भी खा लेना हितकर है।

४—नदी समीप हो, तो उसमें शरीर मल-मल कर खूब स्नान कर लेना।

५—आधा या पाव कोस तक दौड़ आना या दोनों कानों को खूब मलना।

६—१५, २० मिनट तक शीघ्रता से श्वास-प्रश्वास लेना।

७—स्मशान-भूमि को देखना या वहाँ की गति का स्मरण करना।

८—आश्चर्यजनक या कुतूहल-वर्धक ग्रन्थ पढ़ने लगना।

९—संसार की असारता और अपने नश्वर शरीर से घृणा करना।

१०—परमेश्वर के ध्यान और स्मरण मे लग जाना।

ऊपर लिखे किसी भी उपाय का यथा-विधि अवलम्बन करने से काम-विकारों का निश्चयपूर्वक नाश हो सकता है।

स्वास्थ्य की शिक्षाएँ

प्रसिद्ध डा० डिकोरनेट ने स्वस्थ रहने के सर्वोच्च १० उपाय बतलाये है। वे यहाँ दिये जाते हैं:—

(१) वायु-सेवन—बहुत सवेरे उठकर टहलने को जाना और सारे दिन परिश्रम करना।

(२) श्वास-प्रश्वास—नीरोगता के लिए शुद्ध वायु और सूर्य-किरणों की बडी आवश्यकता है।

(३) आचार-आहार—दीर्घ जीवन के लिए परिमित आचार और थोड़ा आहार ही सबसे उत्तम है।

(४) शारीरिक स्वच्छता—जैसे स्वच्छ किया हुआ यन्त्र अधिक दिनों तक चलता है, वैसे ही शरीर भी स्वच्छता से निरोग रहता है।

(५) उचित निद्रा—निद्रा शरीर को फिर से शक्ति प्रदान कर देती है। पर बहुत पड़े रहने से दुर्बलता आती है।

(६) वस्त्र-व्यवहार—शीत और गर्मी से शरीर की रक्षा के लिए ऐसे कपड़े हों, जिनसे चलने-फिरने में रुकावट न हो।

(७) रहने का घर—बहुत स्वच्छ और खुला हुआ हो; वायु और प्रकाश के पहुँचने योग्य हो।

(८) नैतिक स्वास्थ्य—आमोद-प्रमोद से मन अवश्य प्रसन्न होता है, पर इसकी अधिकता से शरीर-शत्रु इन्द्रियां उत्तेजित होकर मनुष्य को पाप की ओर ले जाती है।

(९) मानसिक अवस्था—मन की प्रसन्नता स्वस्थता को बढ़ाती है, किन्तु दुःख और विषाद से असमय मे वृद्धता प्राप्त होती है।

(१०) परिश्रम—केवल मस्तिष्क के परिश्रम से ही काम नहीं चलता। शारीरिक श्रम करने से ही आहार का पचन होता है।

वयोवृद्ध नेता दादाभाई नौरोजी ८६ वर्ष के होने पर भी हृष्टपुष्ट, प्रसन्न-मुख तथा स्वस्थ रहते थे। एक समाचार-पत्र के प्रतिनिधि के पूछने पर उन्होंने इसके जो कारण और स्वास्थ्य सम्बन्धी नौ नियम बतलाये, वे भी नीचे दिये जाते हैं:—

"मैंने आजतक एक दिन भी मदिरा-पान नही किया; मास का स्पर्श तक नहीं किया है, मैंने कभी भी तमाखू नहीं पिया, न खाया और न सूघा, कभी भी अधिक मिर्च का चटपटा भोजन नहीं किया है। मैं बासी भोजन से बचता आया हूँ। मैं अबतक तमोगुण के पास नहीं गया, अर्थात् क्रोध मे आकर गाली-गलौज या मार-पीट नही की। मैंने सदा परिश्रम के साथ अपने और दूसरों के बहुत-से काम किये है। मैंने प्रत्येक काम नियम से किये है।

१—केवल स्थूल शरीर का नीरोग रहना ही सच्चा आरोग्य नहीं है। स्थूल और सूक्ष्म, दोनों शरीर विकार-रहित होने चाहिएँ।

२—शरीर, मन और आत्मा—जिसमे इन तीनों की आगे बराबर उन्नति होती चली जाय, ऐसा काम करना आरोग्य का सच्चा नियम है।

३—आरोग्य रहने के लिए केवल मुख से खा-पी लेना ही पर्याप्त नहीं है, किन्तु सद्गुणों में प्रवृत्ति रखनी चाहिए, जिससे कि आयु बढ़े।

४—स्थूल और सूक्ष्म, इन दोनों शरीरों का परस्पर सम्बन्ध है। इन दोनों में एक के बिना दूसरा नहीं ठहर सकता। स्थूल को स्थूल और सूक्ष्म को सूक्ष्म भोजन देना चाहिए। नियमित खाना-पीना स्थूल शरीर का, और सदाचार आदि सूक्ष्म का भोजन है।

५—ज्वर, खाँसी, क्षय आदि रोग स्थूल शरीर के, और काम, क्रोध, ईर्ष्या, आलस्य आदि सूक्ष्म शरीर के रोग है।

६—सात्विक भोजन स्थूल शरीर को नीरोग रखता है, और मनको सत्वगुणी बनाता है।

७—तामसी भोजन मन को तमोगुणो बनाता है।

८—परोपकार, दया, क्षमा, प्रेम, स्वार्थ-त्याग, स्वदेश और जाति-सेवा आदि उत्तम गुण मनुष्य को उन्नत बनाते, और शरीर को नीरोग रखकर आयु बढ़ाते है।

९—शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार से आरोग्य होने पर ही आनन्द मिलता है, आयु बढती है और प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।

अमेरिका के सुप्रसिद्ध डाक्टर एडवर्ड ड्युई ने सदैव स्वस्थ रहने के लिए निम्नलिखित तीन नियम बतलाये हैं:—

(१) स्वच्छ वायु में टहलना और प्राणायम करना।

(२) स्वाभाविक भूख लगने पर ही उचित मात्रा में भोजन करना।

(३) प्रत्येक ग्रास को भली-भाँति चबा-चबा कर खाना।

सप्तम खण्ड

ब्रह्म-वन्दना

ॐ तेजोऽसि तेजो मयि धेहि, वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि, ओजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि, सहोऽसि सहो मयि धेहि।

(यजु० अ० १९ म० ९)

हे प्रभो! तुम तेज हो हमें तेज प्रदान करो; तुम वीर्य हो हमें हमें वीर्य प्रदान करो; तुम बल हो हमें बल प्रदान करो; तुम आनन्द हो हमें आनन्द प्रदान करो, तुम पराक्रम हो हमें पराक्रम प्रदान करो।

वीर्य-रक्षा के सन्नियम

'वीर्यं रक्षति रक्षितम् ।'

(सूक्ति)

जो अपने वीर्य की रक्षा करता है, वही (वीर्य) उसका संरक्षण करता है।

'बन्धाय विषयासक्तं, मुक्त्यै निर्विषयं मनः ।

(सूक्ति)

विषय में आसक्त मन, बन्धन और विशुद्ध मन मोक्ष का कारण होता है।

ब्रह्मचर्य का विधिवत् पालन करना अत्यन्त कठिन काम है। साधारण से साधारण नियम का उल्लङ्घन करने से भी यह व्रत टूट जाता है। इसका पालन करनेवालों में से बहुत ही थोड़े लोग सफल होते हैं। इसका पालन करने में कभी-कभी महात्माओं से भी असावधानी हो जाती है। इसीलिए हमारे यहाँ शास्त्रों में बहुत-से स्वास्थ्य और इन्द्रिय-निग्रह सम्बन्धी नियम बनाये गये हैं। यदि उनको काम में लाया जाय तो ब्रह्मचर्य का पालन करने में अच्छी सहायता मिल सकती है।

इस देश में दुर्भाग्य-वश ऐसी कुरीतियाँ फैल गई हैं कि उनके कारण सर्वत्र वीर्य का दुरुपयोग हो रहा है। इस ईश्वरीय अनुपम शक्ति से लोग अपने को शून्य बना रहे है । कुछ लोगों को भ्रम-सा हो गया है कि वीर्य को रक्षित रखना असम्भव है। पर ऐसी बात नहीं।

(भगवान् शंकर पार्वतीजी से कहते हैं) हे पार्वती ! बड़ा ज्ञानवान्, वैरागी, धर्मिष्ठ और जितेन्द्रिय कोई मनुष्य क्यों न हो, पर बिना योग के मुक्ति का अधिकारी नहीं बन सकता।

योग का महत्व बतलाने की आवश्यकता नहीं। साधारण से साधारण प्रकार की योग-क्रिया मनुष्य को आसाधारण लाभ पहुँचाने में समर्थ है। इसलिए वीर्य्य-संरक्षण के लिए योग बहुत उत्तम साधन माना गया है। हमारे ऋषि लोग भी योग के द्वारा ही अपने ब्रह्मचर्य व्रत का पूरा पालन करते थे।

हमारे प्राचीन आचार्यों ने योग के भी अनेक भेद निर्धारित किये हैं। पर उन सब के वर्णन की यहाँ पर आवश्यकता नहीं। हम यहाँ पर मूल योग को ही लिखाना चाहते है। उनका भगवान् श्रीकृष्ण ने निम्नलिखित आदेश किया है—

पवित्र स्थान पर, जो कि न तो बहुत ऊँचा हो और न नीचा हो, कुशासनी, मृगचर्म या वस्त्र बिछा कर बैठना चाहिए। उस समय अपने मन को को एकाग्र कर और इन्द्रियों के कर्मों को वश में करके अपनी आत्म-शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे।

> समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरम्।
> सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं, दिशश्चानवलोकयन्॥
> प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारीव्रतेस्थितः।
> मनः संयम्य मच्चित्तो, युक्त आसीत मत्परः॥
>
> (गीता)

शरीर (मध्यभाग), शिर और गर्दन को सीधे रक्खो। कोई

अङ्ग इधर-उधर डुलने न पावे। अर्थात् सब शरीर को स्थिर रखना चाहिए। किसी भी दिशा को न देखते हुए अपनी दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर ठहराना चाहिए। शान्त-चित्त, भय-रहित और ब्रह्मचर्य-व्रत में स्थित हो, मन को संयम कर, आत्मनिष्ठ पुरुष मुझ (परमात्मा) में लीन होवे।

ऊपर लिखी हुई मानसिक योग की क्रिया आँखे मूँद कर भी की जा सकती है। पर उस अवस्था में भी मानसिक दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर ही रहनी चाहिए।

जैसे शरीर के लिए भोजन की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जीवात्मा के लिए मानसिक योग की आवश्यकता अनिवार्य है।

इससे होनेवाले कुछ लाभ नीचे लिखते हैं:—

(१) योग के साधन से मनुष्य का वीर्य नष्ट नहीं होने पाता।

(२) मस्तिष्क और मन में ब्रह्मचर्य की रक्षण-शक्ति प्राप्त होती है।

(३) चित्त की चञ्चलता नष्ट हो जाती है।

(४) उत्तमोत्तम विचार और कार्य की इच्छा होती है।

(५) परमानन्द और शान्ति मिलती है।

(६) सदाचार में सहायता मिलती है।

(७) अधर्म और अनाचार की ओर से चित्त दूर होता है।

(८) सदैव उत्साह, साहस, धैर्य, प्रेम और औदार्य की वृद्धि होती है।

(९) दीर्घ जीवन और आरोग्य प्राप्त होता है।

(१०) अन्त में मोक्ष भी प्राप्त होती है।

१०—संध्या वन्दन

"ऋषयो दीर्घ सन्ध्यात्वाद्दीर्घमषायुरन्युयुः ।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिञ्च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥"

(मनुस्मृति)

ऋषि लोग देर तक सन्ध्या-वन्दन करने के कारण दीर्घायु, सुबुद्धि, सुकीर्ति और ब्रह्मतेज को प्राप्त होते थे।

सन्ध्या-वन्दन की प्रणाली इस देश में बहुत प्राचीन है। हमारी हिन्दू-जनता इसकी विधि से भली-भाँति परिचित है। यह मनुष्य-जाति के लिए एक बड़ा आवश्यक कर्त्तव्य है।

सन्ध्या का अर्थ है एकाग्र चित्त से ध्यान करना, परमेश्वर की उपासना करना, अपने दिन भर के किये कामों पर विचार कर बुरे कामों के लिए पश्चात्ताप करना, आगे के लिए बुरे काम न करने की प्रतिज्ञा करना, आगे का समय सद्व्यवहारों में व्यतीत हो इसकी परमात्मा से प्रार्थना करना आदि।

इस सन्ध्या में बहुत गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है इसीलिए आवश्यक से आवश्यक कार्य को छोड़कर लोग इसे करते थे। महाभारत के युद्ध मे भी पितामह भीष्म, श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर आदि सन्ध्योपासन करते थे, और सन्ध्या के समय युद्ध बन्द हो जाता था।

सन्ध्या प्रातःकाल और सायंकाल दो बार अवश्य करना चाहिए। सन्ध्या करते समय गायत्री-मन्त्र का भी जप करने का विधान है। गायत्री मंत्र यह है:—

ॐ भूर्भुवः स्वःस्तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।

हे सर्वव्यापक, अखिल-गुणसम्पन्न तथा ज्योतिर्मय परमात्मा, हमारी बुद्धि को शुद्ध एवं सद्विचारवाली बनाओ।

इस मंत्र को एक हज़ार बार सौ बार या दस बार अवश्य जप लेना चाहिए।

संध्योपासना से ये लाभ होते हैं:—

(१) मन पवित्र और संयमी बन जाता है।

(२) भगवद्भक्ति में चित्त रमता है।

(३) गुरुतर से गुरुतर पाप भी छूट जाते हैं।

(४) विषय-वासनायें तुच्छ ज्ञात होने लगती हैं।

(५) शरीर बलवान, तेजस्वी और दीर्घजीवी बनता है।

११—स्वल्पाहार

"अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं, तस्मात्तत्परिवर्जयेत ॥

(चा० नी०)

अति भोजन से अस्वस्थता बढ़ती है, आयुर्बल क्षीण होता है, अनेक रोग पैदा होते है, पाप कर्म होते हैं और लोगों में निंदा होती है। इसलिए अधिक भोजन करना वर्जित है।

"स्वल्पाहारः सुखावहः।"

(सूक्ति)

थोड़ा आहार करना सुख-दायक है।

जीवधारियों के लिए आहार बहुत आवश्यक पदार्थ होता है। पर विशेष होने से यही हानि भी पहुंचाता है। स्वल्पाहार करनेवाले सदा सुखी रहते है। विशेष आहार करनेवालों को प्रायः स्वप्नदोष से पीड़ित पाया गया है। कुछ लोगों को कुधारणा-सी हो गई है कि जितना ही खाया जाय उतना ही अच्छा है। बड़े वैद्यों का कहना है कि थोड़ा ही आहार करना स्वास्थ्य के लिए उपयोगी होता है। प्रत्येक ग्रास (कवल) को दाँतों से खूब चबा कर खाना चाहिए। आहार उतना ही करना चाहिए, जितना कि सुगमता से पच सके। विशेष आहार से अजीर्ण, ज्वर, संग्रहणी, कोष्ठबद्धता और धातु-दौर्बल्य आदि अनेक रोग उत्पन्न हो जाते है। भोजन कर लेने पर पानी और हवा के लिए पेट मे काफ़ी स्थान छोड़ देना चाहिए।

स्वल्पाहार से ये लाभ होते है:—

(१) शरीर स्वस्थ और नीरोग रहता है।

(२) मन में बल और स्फूर्ति का वास रहता है।

(३) आलस्य, निद्रा, अनुत्साह का नाश होता है।

(४) इससे वीर्य-रक्षा मे भी बहुत सहायता मिलती है।

१२—सात्त्विक भोजन

आयुः सत्वबलारोग्यं, सुखप्रीतिविवर्द्धनाः।
रस्याः स्निग्धास्थिरा हृद्या आहाराः सात्विक प्रियाः॥

(भगवद्गीता)

जो आहार आयुष्य, ओज, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति का बढ़ाने वाला हो और जो सरस, चिकना, गुरु तथा रुचिवर्द्धक हो, वह सात्विक लोगों को प्रिय होता है।

ब्रह्मचर्य पालन करनेवालों को आहार पर बहुत ध्यान देना चाहिए। तामस आहार से कभी वीर्य-रक्षा नहीं हो सकती। सात्विक आहार करते रहने से मानसिक वृत्ति भी सात्विक बन जाती है।

(१) सात्विक आहार से शरीर की सब धातुओं को लाभ पहुँचाता है। (२) बुद्धि और शक्ति बढ़ती है। (३) काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह का नाश होता है। (५) स्वास्थ्य और जीवन-शक्ति की वृद्धि होती है।

१३—फलाहार

वैद्यक शास्त्रों में फलाहार के अपरिमित लाभों का वर्णन है। इस बात को प्रायः सभी लोग जानते हैं कि हमारे ऋषि-मुनि फलाहारी होते थे। बहुत से लोग ऐसे भी हुए हैं कि जिन्होंने फल या फूलों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं खाया है। दूर्वासा ऋषि दूब ही खाकर बहुत दिनों तक जीवित रहे।

फलों में प्राकृतिकता विशेष है। बहुतसे वैद्य लोग बड़े-बड़े रोगियों को फल खाने की सलाह देते हैं। एकादशी जैसे कई उपवास व्रतों में भी लोग फल खाकर रह जाते हैं। भोजन कर लेने के पश्चात् फल खाना बहुत आवश्यक है। जो लोग काम-विकारों से विशेष पीड़ित हों, वे कुछ दिनों तक फल खाकर ही रहें। जो फल जिस ऋतु में होता है,

से कहकर उसकी दृढ़ता निम्नलिखित वाक्यों में करना चाहिए:—

वीर्य-रक्षा में अवश्य सफल हो रहा हूँ। यह मेरे लिए कोई कठिन काम नहीं। काम-विकारों पर मेरा अधिकार हो गया है। वृथा की वासनायें मुझे नहीं सता सकतीं। स्वप्न में भी मेरी इच्छा के विरुद्ध एक बिन्दु वीर्य का पतन नहीं हो सकता। मेरा मन सदाचार में रम रहा है। कोई ऐसी शक्ति नहीं जो मुझे घृणित कार्यों में फंसा दे, इत्यादि।

(१) इच्छाशक्ति के प्रयोग से मन अधिकार में होजाता है। (२) दिन-रात प्रसन्नता और धीरता रहती है। (३) कर्त्तव्य-पालन में सफलता होती है। एवं (४) स्वस्थता और जीवनी-शक्ति बढ़ती है।

२०—*सदभ्यास*

अतिशय रगर करै जो कोई।
अनल प्रगट चन्दन ते होई॥

(रामायण)

'अभ्यासात्फल मश्नुते।'

अभ्यास के द्वारा कर्त्तव्य का फल मिलता।

अभ्यास की श्रेष्ठता शब्दों से कहकर नहीं बतलाई जा सकती। अभ्यास ही बढ़कर फल-रूपमें परिणत हो जाता है। जैसे जो विद्यार्थी व्याकरण का आचार्य बनना चाहे उसे व्याकरण का नियमित रूप से अभ्यास करना पड़ता है। यदि वह पढ़ने का अभ्यास न करे, तो सफल नहीं हो सकता। इसलिए जो लोग ब्रह्मचारी बनना चाहें, वे भी

वीर्य-रक्षा का अभ्यास करें। पहले पहल असफल होने पर भी अभ्यास को न छोड़ना चाहिए। केवल मन में ही सोच लेने से काम नहीं चलता। अभ्यास ही उसके साधन का मूल है। जिसकी इन्द्रिय-लोलुपता बढ़गई हो, और उसका छूटना कठिन होगया हो, उसे भी हताश होकर बैठ न जाना चाहिए। बल्कि उससे छूटने के उपायों का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए और हम विश्वास दिलाते हैं कि कुछ ही दिनों में उसका अभ्यास पुष्ट होते ही उसकी विजय होगी और उसकी इन्द्रिय-लोलुपता अवश्य दब जायगी।

किसी बात का अभ्यास भी धीरे-धीरे करना चाहिए। एकदम करने से हानि होती है और अभ्यास भी छूट जाता है। अभ्यास की ओर सदैव सचेष्ट रहना चाहिए। जो दुर्गुण जान पड़ें उन्हें छोड़ने और सद्गुणों को ग्रहण करने में भी धीरे-धीरे अभ्यास किया जा सकता है।

(१) सदभ्यास से साधना सफल होती है। (२) मनुष्य स्वावलम्बी बन जाता है। (३) कुछ ही दिनों में सद्गुणों की वृद्धि होती है। (४) मन में प्रसन्नता होती है तथा (५) बुरे कार्यों के लिए अवकाश नहीं मिलता।

२१—वैराग्य

सर्वं परिग्रह-भोग-त्यागः।
कस्य सुखं न करोति विरागः॥

(शंकराचार्य)

सब प्रकार की तृष्णा और भोगों को छोड़ देना इस प्रकार का वैराग्य भला किसे सुख नहीं देता ?

इस देश के प्राचीन निवासी गृहस्थाश्रम में रहकर भी वैरागी होते थे। विदेह जनक ऐसे ही वैरागी थे। इसका फल यह होता था कि माया उन पर पूर्णरूप से अधिकार जमाकर अनर्थ नहीं करा सकती थी।

वास्तव में जब तक हृदय में वैराग्य-भाव जड़ नहीं जमा लेता, विषय-वासनायें उसका पीछा छोड़ती ही नहीं। काम क्रोध, मद और लोभ आदि के घटाने के लिए वैराग्य ही समर्थ होता है। ब्रह्मचर्य का नाश न होने देनेवालों को वैराग्य के विचारों को अवश्य प्रोत्साहित करना चाहिए। वैराग्ययुक्त मन बनाने के लिए इस प्रकार विचार करना चाहिए :—

यह संसार ही असार है। पुण्य ही यहाँ सब कुछ है। पापियों को नरक भोगना पड़ता है। विषय-भोग में वास्तविक सुख नहीं। अज्ञानता में पड़कर किसी प्रकार का व्यभिचार न करना चाहिए। कोई अमर नहीं होने आया है। जीवन, धन और यौवन थोड़े ही दिनों तक रहते हैं। अतएव इनका अभिमान न करना चाहिए। यह मनुष्य-देह अपने स्वार्थ-साधन के लिए नहीं मिली है। यह दूसरों की सेवा करने के लिए मिली है। मुझे अपना तन, मन, धन अर्थात् सर्वस्व धर्म-सेवा, देश सेवा के लिए अर्पण कर देना चाहिए।

२२—परिश्रम और उत्साह

'उत्साहवन्तः पुरुषः, नावसीदन्ति कर्हिचित्।

(वा० रामायण)

उत्साही पुरुषों को कभी कष्ट नहीं हो सकता।

परिश्रम और उत्साह में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। परिश्रम और उत्साह से संसार के सारे कार्य सम्पादित होते है।

दिन-रात परिश्रम में लगे रहने से विषय-वासनायें नहीं सतातीं। निरुद्यमी लोगों को ही विलासिता में आनन्द मिलता है। उत्साही पुरुष कभी आलसी होकर नहीं बैठ सकता। उसका मन सदैव ऊंचे से ऊंचे कार्य के सञ्चालन में लगा रहता है। इसलिए उसे भोग-विलास की बातों मे पड़ने का अवसर ही नहीं मिलता। जो लोग अपने वीर्य की रक्षा करना चाहते हों, उन्हें कभी निरुद्यमी और अनुत्साही बनकर न रहना चाहिए। क्योंकि आलस्य ही शैतान का घर है। निरुद्यमी रहने से सदा कुविचार उत्पन्न होते रहते हैं। अतएव सब लोगों को परिश्रमी और उत्साही बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

२३—सच्ची श्रद्धा

'यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

(भगवद्गीता)

जो जैसी श्रद्धा रखता है, वह वैसा ही बनता है।

बिना सची श्रद्धा के मनुष्य किसी भी कार्य को अच्छी तरहसे

नहीं कर सकता। अश्रद्धा से कर्त्तव्य-पालन में मन ही नहीं लगता और उसके कार्य में भो सफलता नहीं मिलती।

वीर्य-रक्षा के लिए भी सच्ची श्रद्धा की अवश्यकता होती है। जो पुरुष ब्रह्मचर्य के प्रति अपने हृदय में सच्ची श्रद्धा नहीं रखता वह कभी संयम नहीं कर सकता। श्रद्धालु पुरुष ही इस उत्कृष्ट व्रत का पालन कर सकता है। इसलिए जो लोग वीर्य-रक्षक बनना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि पहले-पहल सच्चे श्रद्धालु बनें।

(१) सच्ची श्रद्धा से प्रत्येक कार्य सरलता से सिद्ध हो सकता है। (२) मन मे उत्साह रहता है। (३) प्रसन्नता और तत्परता रहती है। (४) दुर्गुणों का नाश होता है। और (५) सब प्रकार के सुधार और आत्म-संयम हो सकते हैं।

२४—दृढ विश्वास

'विश्वासः फल दायकः।'

(सूक्ति)

विश्वास फल का देनेवाला है।

विश्वास के बिना प्रत्येक कार्य के करने में भय प्रतीत होता है और भय के हो जाने से उसकी पूर्ति के लिए उचित उद्योग नहीं होता। अविश्वास के कारण हमने कई लोगों को साधारण से साधारण कार्य में असफल होते देखा है, ओर कठिन से कठिन कार्य में भी अपने विश्वास के कारण लोग सफल हुए हैं। वीर्यरक्षा के लिए भी दृढ़ विश्वास की नितान्त आवश्यकता होती है। इस बात का

प्रति समय विश्वास रखना चाहिए कि हम आवश्य इस व्रत में सफल होगे। फिर किसी भाँति का भय नहीं हो सकता। कष्टों के पड़ने पर भी विश्वास को दृढ़ रखना चाहिए।

(१) दृढ़ विश्वास से कार्य-साधन में सफलता मिलती है। (२) हृदय में स्वाभाविक शान्ति रहती है। (३) मनुष्य धीरता से कार्यों में लगा रहता है। (४) उद्योग में कमी नहीं होती। एवं (५) सद्विचारों की उत्पत्ति होती है।

२५—*विश्व-प्रेम*

'उदार चरितानांतु वसुधैव कुटुम्बकम्।'

जो उदार चरित्रवाले पुरुष है, वे संसार को अपना कुटुम्बी मानते हैं।

विश्व-प्रेम वही है, जिसमें कि अपने-परायेपन का भेद-भाव नहीं रह जाता। ऐसे प्रेमी का हृदय शुद्ध और सरल हो जाता है। उसके विचार श्रेष्ठ और पवित्र हो जाते है। इसीसे वह संसार के स्त्री-पुरुषों को अपना कुटुम्बी समझता है। ऐसा कदाचित् ही कोई मनुष्य हो, जो अपने कुटुम्बियों के प्रति दुर्भाव रखता हो और उनका अहित चाहता हो। विश्व-प्रेमी के हृदय में अन्य किसी स्त्री पर कुदृष्टि करने का विचार ही नहीं उठ सकता। वह तो अधम और अन्यायियों को भी सदाचारी और चारित्रवान् तथा कुलटा और व्यभिचारणी को साध्वी और सदाचारिणी बनाने का प्रयत्न

उनके घर पहुँचा दिया। अतएव अपने से छोटी आयुवाली स्त्रियों के प्रति पुत्री-भाव रखना बहुत ही श्रेयस्कर है।

२६—भाव की निर्मलता

मृत्तिकानां सहस्रैस्तूदककुम्भ शतान्यपि।
न शुद्ध्यन्तिदुरात्मानो, येषां भावोन निर्मल॰॥

(दक्ष-स्मृति)

जिन लोगों का भाव निर्मल (शुद्ध) नहीं है, वे दुरात्मा हजारों मन मिट्टी और सैकडों घड़े जल से भी शुद्ध नहीं किये जा सकते।

"भावेहि विद्यते देवस्तस्माद्भावोहि कारणम्।"

भाव में ही देवता बसते है, अतः भाव ही प्रधान है।

भाव ही सब कुछ है। इसी भाव के प्रभाव से लोग ईश्वर तक को प्राप्त कर लेते हैं। पर वह भाव होना चाहिए सच्चा, जिस पुरुप का भाव निर्मल है, उसे संसार ही निर्मल दिखलाई पड़ता है, और जिसका पापमय है, उसे सब कुछ दूपित ही ज्ञात होता है। क्योंकि कहा गया है:—

जाकी रही भावना जैसी।
प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी॥

(तु॰ रामायण)

इसलिए भाव की निर्मलता पर विशेष ध्यान देना चाहिए। ब्रह्मचर्य के लिए यह नितान्त आवश्यक है। इस भाव से संसार की सभी स्त्रियाँ ब्रह्मचारिणी दिखलाई पड़ेगी और समस्त पुरुप सदाचारी

ज्ञात होंगे। फिर तो व्यभिचार के लिए कोई कारण ही न मिल सकेगा। जिसके भाव में निर्मलता है, वह औरों के हृदय को भी बदल सकता है; जैसे चन्दन जिस वन में रहता है, अपनी सुगन्धि से और वृक्षों को भी सुगन्धित कर देता है। अतएव सदा अपने हृदय में शुद्ध भावों को स्थान देना चाहिए। और बुरे विचारों के आते ही भगवद्भजन या महात्माओं के उपदेशों का स्मरण करना चाहिए।

३७—*ज्ञानेन्द्रियों पर संयम*

'बुद्धीन्द्रियाणां पंचैव शब्दाद्या विषया मताः।'

ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं, और शब्दादि पाँच इनके विषय माने गये हैं।

वे इन्द्रियाँ जिनके द्वारा अन्तरात्मा को पदार्थों का ज्ञान होता है, ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं। ये पाँच है। कान, त्वचा, नेत्र, जीभ और नाक। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच क्रम से उनके विषय है।

श्री भगवद्गीता में लिखा है कि यदि समस्त इन्द्रियों में किसी एक इन्द्रिय का भी द्वार खुला रह जाय, तो मनुष्य की सुबुद्धि इस प्रकार नष्ट होने लगती है जिस प्रकार कि मशक मे एक छिद्र होजाने से उसमें का सारा पानी बह जाता है।

वीर्य-नाश से बचने के लिए ज्ञानेन्द्रियों पर अधिकार कर लेना अत्यन्त ज़रूरी है। वे लोग कभी ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते, जिनकी ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में स्वतन्त्र होकर विचरण करती हैं।

कान से शब्द ग्रहण होता है। जैसे शब्द कान में पड़ते हैं, वैसे ही हृदय पर प्रभाव होता है। इसलिए कानों से किसी प्रकार के अश्लील शब्द न सुनने चाहिएँ। व्यभिचार की कथा, दूषित भाव उत्पन्न करनेवाली बात और आत्मोत्साह को हीन करनेवाली युक्तियों के सुनते-सुनते यह इन्द्रिय वश के बाहर हो जाती है। इसे वश में करने के लिए। सदुपदेश और वेद-मन्त्रों के घोष को सुनना चाहिए।

स्पर्श का अनुभव त्वचा से होता है। जैसी वस्तु त्वचा से छुई जाती है, वैसी ही इच्छा उत्पन्न होती है। इसलिए इससे कोई ऐसी वस्तु न छूनी चाहिए, जिससे काम-वासना को सहायता मिले। जैसे, कोमल शय्या पर शयन करना, तरुणी स्त्री का कर-स्पर्श करना और शरीर पर सुन्दर-सुखद वस्त्र धारण करना। इन कार्यों से यह इन्द्रिय वशवर्त्तिनी नहीं रह सकती। अतः इस कार्य के विपरीत कार्य करने में ही हित है।

रूप का ज्ञान आँखों से होता है। यह इन्द्रिय भी बड़ी बलवती है। बार-बार युवती स्त्री पर दृष्टिपात करने, अश्लील नाटक देखने, नग्न स्त्रियों के चित्रों को निहारने और पशु-पक्षियों की क्रीड़ा देखने से यह इन्द्रिय स्वतन्त्र हो जाती है। इसलिए इसे अपने वश में करने के लिए ईश्वरीय सृष्टि, प्राकृतिक सुन्दरता और दिव्य मूर्तियों के देखने का अभ्यास करना चाहिए।

रस का आनन्द जीभ से लिया जाता है। यह सदैव सरस पदार्थों पर दौड़ती है। अधिक मीठे, अधिक तीते, अधिक खट्टे,

अधिक चिकने और अधिक कड़ुए पदार्थों के सेवन से यह बिगड़ जाती है। इसे वश में करने के लिए यह उपाय है कि यह जो चाहे, उसे देवे ही नहीं। मिठाइयों का रस लेना चाहे, तो इसे चने चवाना चाहिए। इस प्रकार इसकी लोलुपता कम हो जायगी। इसे वही और उतना ही पदार्थ सेवन के लिए देना चाहिए, जितने में स्वास्थ्य और ब्रह्मचय बना रहे।

गन्ध का अनुभव नाक से होता है। इसे दुर्गन्धित वस्तुओं के सूँघने से बचाना चाहिए। कामोत्पादक सुगन्धित पदार्थ भी इसे न देना ही ठीक है। इससे स्वास्थ्यप्रद वायु और दूर से फूलों की सुगन्धि ही लेनी चाहिए। इसे भी सदैव वश में रखना आवश्यक है।

ज्ञानेन्द्रियों के संयम से मन, बुद्धि, आत्मा और शरीर सब पर अधिकार प्राप्त होता है और सत्कर्त्तव्यों का पालन हो सकता है तथा योग की सिद्धि भी हो सकती है।

३८—ब्रह्मचारियों की चर्चा

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च, नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य, सिद्धिं गच्छन्तिव र्हिचित्॥

(मनुस्मृति)

जो दुराचारी अजितेन्द्रिय पुरुष है, उसके वेद, त्याग, यज्ञ, नियम तथा तप या दूसरे कोई कार्य सिद्धि को प्राप्त नहीं होते।

वीर्य-रक्षा के लिए ब्रह्मचारियों की चर्चा बहुत हितकारिणी होती है। ऐसी चर्चा करने या सुनने से ब्रह्मचर्य के प्रति सच्ची श्रद्धा

उत्पन्न हो जाती है और आत्मिक साहस पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ जाता है। जब यह बात ज्ञात होती है कि अमुक ब्रह्मचारी ने इस इस प्रकार के कार्य किये, तथा इस-इस उपाय से अपनी वीर्य रक्षा की, तो हृदय में यह विश्वास दृढ़ हो जाता है। कि हम भी उनके अनुकरण से अपने को संयमी बना सकेंगे। यह कोई कठिन काम नहीं है। वे भी तो हमारे-जैसे मनुष्य ही थे।

संसार मे आज तक प्रायः जितने सत्कर्म हुए हैं, उनमें ब्रह्मचारियों का विशेष हाथ रहा है। मनुष्य जाति पर उनके परोपकार का अदेय ऋृण लदा हुआ है। ब्रह्मचर्य का पालन करने से ही उस ऋृण का कुछ सूद दिया जा सकता है। अतः प्रत्येक स्त्री-पुरुष को चाहिए कि उन लोगों के दिव्य चरित्र की चर्चा करें, और भरसक उनके आदर्शों पर चलकर ब्रह्मचर्य-रूपी अमृत पीकर अपने हृदय को तृप्त करें।

३९—*मृत्यु-भय*

अजरामरवत्प्राज्ञो, विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥

(नीतिशास्त्र)

बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि अपने को अजर-अमर समझ कर विद्या और धन का संग्रह करे। किन्तु धर्म इस प्रकार करता रहे कि जैसे मृत्यु उसके शीश पर नाच रही हो।

जिसका जन्म होता है, एक-न-एक दिन वह मरता भी अवश्य

है। भगवान् राम तथा श्रीकृष्ण जैसे अवतारी पुरुषों को भी क्रूर काल ने नहीं छोड़ा फिर साधारण लोगों की तो बात ही क्या!

मृत्यु का भय निस्सन्देह सभी भयों से भारी होता है। जो किसी से न डरता हो, वह मृत्यु के नाम से डर जाता है। इसलिए जब हृदय में काम-विकार उत्पन्न हो, तब मृत्यु विषयक चिन्ता कर भयभीत हो जाने से वीर्य-रक्षा हो सकती है। उस समय यह सोचना चाहिए कि मृत्यु से बचना कठिन है। फिर किस दिन के लिए इन्द्रिय-सुखों में पड़कर पाप करूँ! ब्रह्मचर्य के पालन से मृत्यु के दिन दूर किये जा सकते हैं पर वीर्य-नाश से वह बहुत समीप आ जाती है। अतएव मैं वही उपाय करूँगा, जिससे मैं अधिक दिनों तक इस संसार में जी सकूँ और मृत्यु के मुख में पड़नेवाले कष्ट शीघ्र ही न अनुभव करूँ।

(१) मृत्यु-भय से मनुष्य कभी आलसी और अनुत्साही नहीं हो पाता। (२) सदैव पुण्य और परोपकार में लगा रहता है। (३) किसी को कष्ट देने या दुर्वचन कहने का साहस नहीं करता। (४) सद्व्यवहार और धार्मिक कार्यों में रत रहता है।

४०—*व्यसन-त्याग*

उत्तम शिक्षा के अभाव तथा पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से इस देश में बुरे व्यसनों का साम्राज्य-सा स्थापित हो गया है। इन दुर्व्यसनों में अबोध लोग तो पड़े ही हैं पर हमारे बहुत-से विद्वान लोग भी फैशन के फेर में पड़कर इसके भक्त हो गये हैं। बीड़ी,

सिगरेट, पान, तम्वाकू, भंग यह तो इनका नित्य का भोजन-सा हो गया है। दुर्व्यसनों का शरीर और आत्मा पर वहुत ही वुरा प्रभाव पड़ता है, दुर्व्यसनी लोग कभी व्यभिचार से वच नहीं सकते।

मादक द्रव्य सेवन करने से रक्त मे एक प्रकार की अस्वाभाविक उत्तेजना होती है। शुरू-शुरू में तो मनुष्य को फुरती-सी मालूम होती है, पर अन्त में उसका परिणाम वड़ा भयंकर होता है। रक्त में अस्वाभाविक उत्तेजना से वीर्य पतला पड जाता है, पित्त बिगड जाता है, आँखों की ज्योति क्षीण हो जाती है, छाती, दिमाग़ और दिल कमजोर हो जाते हैं, अन्त में खाँसी और दमे के रोग इतने पीछे लग जाते हैं कि मनुष्य को मारकर ही छोड़ते हैं। कई लोग वीड़ी सिगरेट आदि को पाख़ाने साफ़ होने ओर वात-विकार दूर होने को दवा समझते है। पर यह उनका भ्रम है। इससे उनकी आँतें कमजोर हो जाती हैं और धीरे-धीरे वे उसके ऐसे गुलाम हो जाते है कि विना बीड़ी सिगरेट के उनका पाख़ाना हो नहीं उतर सकता। यही हाल गाँजा, भाँग, शराब, अफ़ीम आदि का है। अतएव जो लोग अपनी उन्नति करना चाहें, उन्हें कदापि इन दुर्व्यसनों के फेर मे न पड़ना चाहिए।

प्राचोन समय में धार्मिक शिक्षा के प्रभाव से बहुत ही कम लोग दुर्व्यसनों में फँसते थे।

जो लोग दुर्व्यसनी थे भी, वे राक्षस और म्लेच्छ कहे जाते थे। पर हाय! आज उसी आर्य-जाति में राक्षसी कार्य के करने वाले सौ में पञ्चानवें हो गये हैं। जो दुर्व्यसन में पड़ा है, वह कभी वीर्य-

रक्षा में सफल-मनोरथ नहीं हो सकता। छोटे से छोटा दुर्व्यसन भी वीर्य-नाश का बड़ा कारण बन जाता है।

सभ्य और शिक्षित देशों में अब इन मादक द्रव्यों का प्रचार कम होता जाता है। कई देशों में तो इसके लिए कड़े कानून बना दिये गये हैं। चीन और जापान देश की दशा देख लीजिए। चीन में अफ़ीम का प्रचार होने से उसकी कैसी दुर्दशा हो रही है और जापान में इसके लिए कानूनन रोक होने से उसकी कितनी उन्नति हो रही है यह आप के सामने प्रत्यक्ष उदाहरण है।

४१—उपवास-व्रत

आहारान् पचति शिखी, दोषान् आहार वर्जितः।

अग्नि से आहार पचता है और उपवास से दोष पचते हैं।

हमारे हिंदूधर्म-शास्त्रों में उपवास का बहुत महत्व लिखा है। उपवास से शरीर, मन और आत्मा सब ही की उन्नति होती है। शरीर में दोषों के बढ़ जाने से इन्द्रियों का वेग बढ़ जाता है और मन काबू से बाहर होने लगता है। उपवास से सब दोष नष्ट हो जाते हैं और शरीर स्वस्थ और हलका-सा मालूम होता है अंग्रेजी में कहावत है—Sound body, Sound mind. अर्थात् स्वस्थ शरीर के कारण मन भी चंगा रहता है।

धर्म-शास्त्रों में एकादशी, चतुर्दशी, शिवरात्रि आदि कई तिथियों के दिन उपवास करने की आज्ञा है। धार्मिक महत्व के कारण बहुत से लोग इनका पालन भी करते हैं। पर उपवास के रहस्य को न

जानने के कारण लोग उपवास के पहले दिन पेट भर कर खूब मिष्टान्न आदि पदार्थ खा लेते है। कोई लोग फलाहारी उपवास करते है और उसमें भी ऐसे ही गुरु पदार्थ खाते है। ऐसे नामधारी उपवास से तो न करना ही उत्तम है वास्तव में उपवास के दिन कुछ भी न खाना चाहिए। दूसरे दिन हलकी चीज खानी चाहिए।

वीर्य-रक्षा में उपवास से बड़ी सहायता मिलती है। उपवास का दिन हँसी-मजाक या खेल-तमाशे आदि में न खोना चाहिए, बल्कि वह दिन भगवद्भजन, उत्तम ग्रंथों का पठन व श्रवण आदि शुभ कर्मों में व्यतीत करना चाहिए। इस तरह के उपवास से ही वास्तव में शारीरिक और मानसिक लाभ हो सकता है।

४२—ईश-प्रार्थना

"ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।"

(श्रीकृष्ण)

हे अर्जुन! परमेश्वर सब प्राणियों के हृदय में वास करता है।

परमेश्वर की सत्ता सब से परे मानी गई है। उसी के जानने के लिए ऋषियों ने अनेक उपाय बतलाये है। उसीके पाने के लिए वेदादि सद्ग्रन्थों मे ज्ञान और उपासना की युक्तियाँ बताई गई है।

जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, उसीको परमात्मा-तत्व का बोध हो सकता है। इसी के लिए हमारे पूर्वज ऋषि लोग दिव्य-दृष्टि पाने का प्रयत्न करते थे। उत्तमोत्तम स्तुतियों से ईश्वर की उपासना कर अपने चित्त को निर्मल बनाते थे। उनकी प्रार्थना-विधि, बड़े महत्व की

थी। इसके बल से वे अपने सदाचार की रक्षा करते थे। वास्तव में जो लोग भगवान् के भक्त है, उनके हृदय में काम-विकार नहीं बसता। ब्रह्मचर्य के पालन के लिए परमेश्वर की प्रार्थना बहुत ही उपयोगी है। मन को संयमी और अविकारी बनाने के लिए सदा पवित्र शब्दोंवाली भगवान् की प्रर्थनायें करनो चाहिए।

प्रर्थनाओं का प्रभाव हमारे अन्तःकरण पर बहुत उत्तम पड़ता है। जो प्रार्थना सच्चे हृदय से और सत्कर्तव्य के लिए की जाती है, वह अवश्य सफल होती है। नम्र और सदाचारी पुरुषों का मन बुरी भावनाओं से छूटकर पवित्र सत्कामों की ओर जाता है। वे इसका सदैव आदर करते है।

अतएव जो लोग दिन प्रति दिन अपने ब्रह्मचर्य की उन्नति चाहते हों, उन्हे प्रतिदिन तल्लीन होकर परमात्मा का स्मरण करना चाहिए और गद्गद् होकर भगवान से प्रार्थना करनी चाहिए:—

हे प्रभो, आप अन्तर्यामी हो। मेरे दुर्गुण आप से छिपे नहीं हैं मुझे ऐसा बल दो कि जिससे मैं सदाचारी बनूं—सत्य-निष्ठ बनूं—और संसार के मोह-माया-जाल से छूटकर आप में लीन हो जाऊँ। हे नाथ, वह दिन कब आयगा, जिस रोज़ मेरा चित्त रात-दिन आपके ध्यान में ही मग्न रहेगा, मेरे कान सदा आपके गुणों को सुनते रहेंगे, मेरी जिह्वा से सदा सत्य और मीठे वचन निकलेंगे, मेरे हाथ सदा दान देने में और सेवा करने में लगे रहेंगे; मेरा तन, मन, धन और सर्वस्व दीन-दुखियों के दुख दूर करने और उनकी सेवा में काम आवेगा। हे नाथ! आओ, मुझे, अपनी शरण में लो और कुमार्ग से दूर कर सुमार्ग की ओर ले चलो।

विद्वानों के मत

मैं जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर भू-मण्डल में वेदों का प्रचार करूँगा। मेरी समस्त शक्ति अवैदिकता (पाखण्ड) के खण्डन में लगेगी। मुझे विश्वास है कि ब्रह्मचर्य की सहायता से मनुष्य को सब कुछ सुलभ हो सकता है।

प्रिय शिष्यो! आत्म विजय ही ब्रह्म-बोध का मूल है। ब्रह्मचर्य की अखण्डता से परमात्मा की सहज मे प्राप्त होती है।

—शंकराचार्य

इन्द्रियों के विषय (भोग-विलास) में सुख को मत ढूँढ़ो। हे इन्द्रियों के दास! अपनी इस सुख की निष्फल और बाहरी खोज को छोड़ दो! अमरत्व का महासागर तुम्हारे भीतर है। स्वर्ग का राज्य तुम्हारे ही भीतर है। वह सब ब्रह्मचर्य से ही सध सकता है।

जैसे दीपक तेल, बत्ती-द्वारा ऊपर को चढ़ता हुआ प्रकाश के रूप में बदल जाता है, वैसे ही वह शक्ति (वीर्य) जिसका कि नीचे की ओर बहाव है, यदि ऊपर को जाने लगे अर्थात् ऊर्ध्वरेतस (ब्रह्मचारी) बन जाय, तो आकर्षणवाली शक्ति, पूर्ण तेल तथा परमानन्द मे बदल सकती है।

हनूमान का नाम लेने और ध्यान करने से लोगों में शूरता-वीरता क्यों आती है? उन्हें महावीर किसने बनाया? इसी ब्रह्मचर्य ने।

—रामतीर्थ

वीर्य ही साधुता है। दुर्बलता पाप है बलवान् और वीर्यवान

बनने की चेष्टा करो। उपनिषदों के बलप्रद, आलोकप्रद और दिव्य दर्शन-शास्त्रों का अवलम्बन करो। अन्य दुर्बलता बढ़ानेवाले विषयों को छोड़ो।

हमे ऐसे ब्रह्मचारी मनुष्य चाहिए, जिनके शरीर की नसें लोहे की भाँति और स्नायु इस्पात की तरह दृढ़ हों। उनकी देह मे ऐसा मन हो, जिसका सङ्गठन वज्र से हुआ हो। हमें चाहिए पराक्रम, मनुष्यत्व, क्षात्रवीर्य और ब्रह्मतेज।

—विवेकानन्द

मैं विद्यार्थियों और युवकों से यही कहता हूँ कि वे ब्रह्मचर्य और बल की उपासना करें। बिना शक्ति और बुद्धि के अपने अधिकारों की रक्षा और प्राप्ति नहीं हो सकती। देश की स्वतन्त्रता वीर-व्रतियों पर ही निर्भर करती।

—लो० तिलक

ब्रह्मचर्य को पुनर्जीवित करनेवाले, सारी आयु बाल-ब्रह्मचारी रहकर ब्रह्मचर्य का जीवित दृष्टान्त हमारे सामने रखने वाले—महर्षि (दयानन्द) का आदर्श व्यक्तित्व ही है, जो कि हमें उत्साह से मनुष्य-मात्र की सेवा के परम मार्ग पर ले जाता है। उनके जीवन का एक-एक क्षण प्रजा के सुख-चिन्तन मे बीता। ईश्वर पर उनके अटल विश्वास ने, उनको सदा सीधे मार्ग पर चलने के लिए प्रकाश दिया। स्वामीजी का उन्नत व्यक्तित्व हमें जीवन-यात्रा के उचित मार्ग पर चलने के लिए उत्साह प्रदान करता है।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अब तो ब्रह्मचारियों का रूप बदल गया। कर्जन फैशन चला गया है। गुरु गोविन्दसिंह ने महाभारत पढ़कर ही क्षत्रियों में शक्ति पैदा की थी। युद्ध से पहले वे दुर्गा की स्तुति करते थे। उन्होंने अपने शिष्यों को ब्रह्मचर्य का व्रत दिया।

शास्त्र कहता है कि ब्रह्मचर्य में ही बल है—शक्ति है। हमारे यहाँ भीष्म और हनूमान, दो ऐसे ब्रह्मचारी हुए है, जिनकी टक्कर का ब्रह्मचारी और कहीं नहीं मिलता। जाननेवालों के लिए भीष्म आज भी जीवित हैं। हनूमान—'जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।' बुद्धिमान, त्यागी और वीर हुए है—मूर्ख नहीं। मैं चाहता हूँ कि इनकी मूर्तियाँ स्थान-स्थान पर खड़ी हो जायें। वहाँ वे ही जायँ, जो लँगोट के सच्चे (ब्रह्मचारी) हों।

—मदनमोहन मालवीय

अध्यात्म विद्या से ही सच्ची स्वाधीनता मिल सकती है। मानसिक दुर्बलता को त्याग देना चाहिए। जो जाति अपनी संस्कृति को नहीं छोड़ती, वह पतित नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्य और योगी ही सुख का मार्ग है। तपोव्रत से ही उत्थान होता है। ऋषियों के गूढ़ रहस्यों को समझो। उपनिषदों के उपदेशों पर चलकर ही मुक्ति मिल सकेगी।

—अरविन्द घोष

यह संसार ही मातृमय है! कुभावना के लिए स्थान ही कहाँ! इस विचार से ब्रह्मचर्य के पालन में कठिनता क्या है? माता स्वयं अपने पुत्रों की रक्षा करती है। —रामकृष्ण परमहस

भीमसेन तथा हनूमानजी के चित्र मेरे मानसिक पटल पर खिंच रहे थे। मैंने विचार किया कि उनके समान न सही, पर अपने शरीर को अवश्य ही पुष्ट बना सकता हूँ।

भगवद्गीता तथा शुश्रुतादि आयुर्वेदिक ग्रन्थों का मैंने अवलोकन किया। अपने शास्त्रों के अध्ययन से मुझे शारीरिक उन्नति का सर्वोत्तम उपाय ब्रह्मचर्य सूझ पड़ा। मैंने और सब अभ्यासों को छोड़कर उसी को ग्रहण किया और यह बात प्रकट कर दिखलाई कि भीमसेन द्रोणाचार्य आदि हमारे महा-महामान्वित पूर्वजों के गौरव को बढ़ानेवाली, भारतवासियों की वही सर्वश्रेष्ठ (वीर्य-रक्षण और प्राणायामयुक्त) व्यामाम प्रणाली थी।

—प्रो० राममूर्ति

सदाचार संसार की सभ्यता का मूल है। ब्रह्मचर्य सदाचार का बीज है। इसके अभाव मे कोई जाति अपना अधिक दिनों तक अस्तित्व नहीं रख सकती। विलासिता वह राक्षसी है, जो उस बीज को निर्मूल करने मे लगी रहती है।

—एक दार्शनिक विद्वान्

परमात्मा के राज्य में प्रिय बनने के लिए अविवाहित जीवन बिताना धर्म है। संयम और पवित्रता से ब्रह्मचर्यमय रहने का ही स्वर्गीय आदेश है।

—ईसा मसीह

संसार में मनुष्य को अपना जीवन निष्पाप (व्यभिचार-शून्य) तथा उच्च सदाचारयुक्त बनाने में ही वास्तविक सुख है।

—महात्मा सुकरात

मेरा मत है कि मनुष्य-जाति में सुख शान्ति को स्थापित रखने के लिए, पुरुष और स्त्री— दोनों को सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन करने का उद्योग करना श्रेष्टकर है। दोनों को सावधानता तथा दृढ़तापूर्वक इस संयमशीलता का अभ्यास करना चाहिए। इसी प्रकार आचरण से वे अपने उच्च उद्देश्य की सिद्धि करने में समर्थ होंगे। लक्ष्य-वेध करने के समय अपने तीर को उससे कुछ ऊपर छोड़ना पड़ता है। ऐसा करने से ही तीरन्दाज अपने कार्य में सफल हो सकता है। उसी प्रकार मनुष्य को भी अपने जीवन का उद्देश्य ऊँचा रखना चाहिए, तभी उसे सच्ची सफलता मिल सकती है। यदि वह विषय-भोग क ही अपना लक्ष्य बना लेगा, तो वह अवश्य असफल हो जायगा— वह उससे नीचे गिर पड़ेगा। यदि मनुष्य शारीरिक आनन्द के लिए नहीं, वरन् आत्मिक आनन्द के पाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहेगा, तो वह कहीं साधारण जीवन पर ठहर सकेगा। यदि वह पहले ही से विषय-लोलुपता के कारण अपना साहस खो देगा, तो वह अत्यन्त पतित हो जायगा।

—टाल्स्टाय

वीर्य ही मनुष्य-शरीर का जीवन है। इसके बिगड़ने से रक्त का नाश होता है और अन्त में सुधरना असम्भव हो जाता है। इन्द्रिय-सम्बन्धी सुखों मे आवश्यकता से अधिक लगनेवाले ही भयङ्कर रोगों से घिरे रहते हैं।

—डाक्टर पी० टी० शार्ग

उपसंहार

मनुष्य जीवन का चरम उद्देश्य है परमेश्वर की प्राप्ति—मोक्ष। और इसका प्रधान साधन है संयम—ब्रह्मचर्य। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वैदिक काल से प्रयत्न चला आ रहा है। वेदकालीन महान् ऋषि मुनी इसी का उपदेश करते थे और आज के युग से महात्मा गांधीजी भी वही बात कहते है। और हमारे यहीं क्या सारी मनुष्य जाति के अनेक मत-मतांतरों के मानने वाले समाजों में भी यही बताया गया है। दुनिया के महान पुरुषों ने इसके लिए प्रयत्न किये हैं और अपने जीवन का इसको प्रधान लक्ष्य माना है।

सत्य-निष्ठा, शील, बल, विद्या, सदाचार, परोपकार, साहस, तेज, उत्साह, धैर्य, प्रेम आदि ये ही मनुष्य के लिए अनुकरणीय गुण हैं। इन्हींके आचरण से मनुष्य अपने जीवन के चरम लक्ष्य को पहुच सकता है और इन सब को साधने वाला, एक सूत्र में पिरोने वाला, एक मात्र साधन है ब्रह्मचर्य। यही इन सब गुणों का सार है। माता-पिता अपने बालकों को, गुरू अपने शिष्यों को साथी अपने साथियों को यही सार दें—उन्हे मोक्ष का रास्ता बतावें—दुनिया में उन्हे अमर करदें। इतना भी समझ लेने की अवस्था कुछ लोगों में उत्पन्न हो गई तो मैं, जो कुछ पीछे लिख गया हू इसके लिए अपने को धन्य मानूँगा। यही उस भगवान से प्रार्थना है—

ॐ सहनाववतु, सहनौ भुनक्तु
सह वीर्यं करवावहै, तेजस्विना वधीतमस्तु
मा विद्विषावहै ॐ शांतिः शातिः शांतिः।

———

सस्ता-साहित्य-मण्डल के

प्रकाशन

१—दिव्य-जीवन ।≡)
२—जीवन-साहित्य (दो भाग) १)
३—तामिलवेद ॥)
४—भारत मे व्यसन और व्यभिचार ॥≡)
५—सामाजिक कुरीतियाँ (जब्त : अप्राप्य) ॥)
६—भारत के स्त्री-रत्न (दो भाग) १॥-)
७—अनोखा (विक्टर ह्यूगो) १।≡)
८—ब्रह्मचर्य-विज्ञान ॥≡)
९—यूरोप का इतिहास (तीन भाग) २)
१०—समाज-विज्ञान १॥)
११—खद्दर का सम्पत्ति-शास्त्र ॥≡)
१२—गोरों का प्रभुत्व ॥≡)
१३—चीन की आवाज (अप्राप्य) ।-)
१४—दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह १।)
१५—विजयी बारडोली २)
१६—अनीति की राह पर ।≡)
१७—सीताजी की अग्नि-परीक्षा ।-)
१८—कन्या-शिक्षा ।)
१९—कर्मयोग ।≡)
२०—कलवार की करतूत ≡)
२१—व्यवहारिक सभ्यता ।≡)
२२—अँधेरे में उजाला ॥)
२३—स्वामीजी का बलिदान ।-)
२४—हमारे जमाने की गुलामी (जब्त : अप्राप्य) ।)
२५—स्त्री और पुरुष ॥)
२६—घरों की सफ़ाई ।)
२७—क्या करें ? (दो भाग) १॥≡)
२८—हाथ की कताई-बुनाई (अप्राप्य) ॥≡)
२९—आत्मोपदेश ।)
३०—यथार्थ आदर्श जीवन (अप्राप्य) ॥-)
३१—जब अंग्रेज नहीं आये थे— ।)
३२—गंगा गोविन्दसिंह (अप्राप्य) ॥≡)

३३—श्रीरामचरित्र २।)
३४—आश्रम-हरिणी ।)
३५—हिन्दी-मराठी-कोष २)
३६—स्वाधीनता के सिद्धान्त ॥)
३७—महान् मातृत्व की ओर ॥।=)
३८—शिवाजी की योग्यता (छप रही है) ।=)
३९—तरंगित हृदय (अप्राप्य) ॥)
४०—नरमेध १॥)
४१—दुखी दुनिया ॥)
४२—ज़िन्दा लाश ॥)
४३—आत्म-कथा (गांधीजी) दो खण्ड सजिल्द १॥)
४४—जब अंग्रेज आये (ज़ब्त : अप्राप्य) १।=)
४५—जीवन-विकास अजिल्द १।)
सजिल्द १॥)
४६—किसानों का बिगुल (ज़ब्त) =)
४७—फाँसी ! ॥)
४८—अनासक्तियोग तथा गीता-बोध (श्लोक-सहित) ।=)
अनासक्तियोग =)
गीताबोध— -)॥

४९—स्वर्ण-विहान-(नाटिका) (ज़ब्त) ।=)
५०—मराठों का उत्थान पतन २॥)
५१—भाई के पत्र १॥)
सजिल्द १॥।)
५२—स्व गत— ।=)
५३—युग-धर्म (ज़ब्तःअप्राप्य) १=)
५४—स्त्री-समस्या १॥।)
५५—विदेशी कपड़े का मुक़ाबला ॥=)
५६—चित्रपट ।=)
५७—राष्ट्रवाणी (छप रही है) ॥=)
५८—इंग्लैण्ड में महात्माजी १)
५९—रोटी का सवाल १)
६०—दैवी सम्पद् ।=)
६१—जीवन-सूत्र ॥।)
६२—हमारा कलंक ॥=)
६३—बुद्बुद ॥)
६४—संघर्ष या सहयोग ? १॥)
६५—गांधी-विचार-दोहन ॥।)
६६—एशिया की क्रांति (ज़ब्त) १॥।)
६७—हमारे राष्ट्रनिर्माता २॥)
सजिल्द ३)